श्री भागवत दर्शन
भागवती कथा
खण्ड
६३
लेखक
श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

श्री भागवत दर्शन भागवती कथा, खण्ड ९३
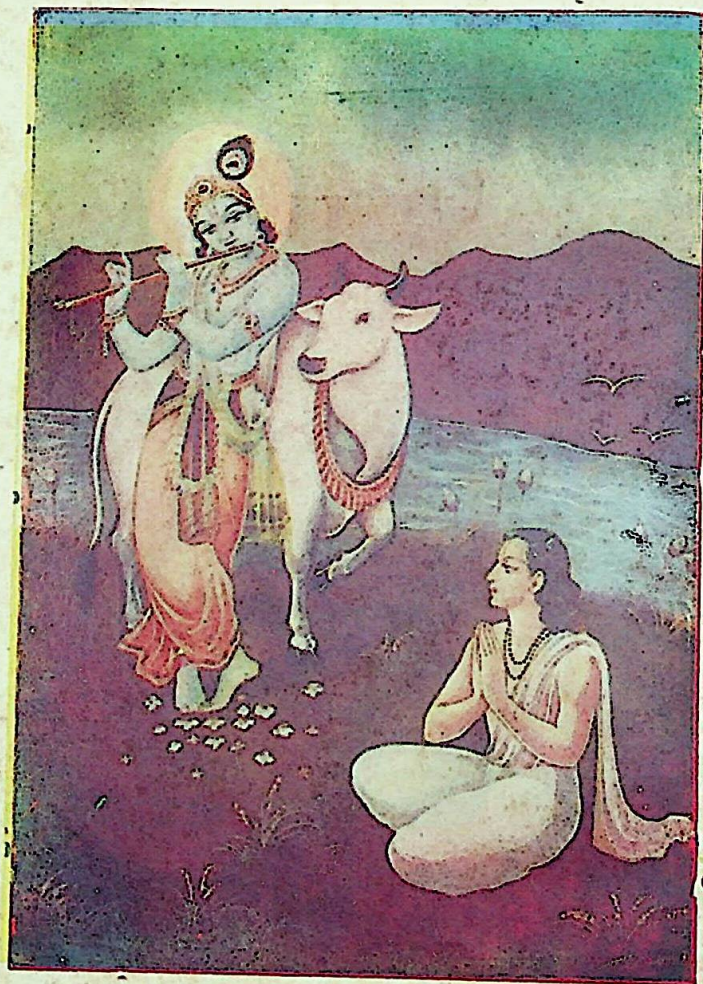
श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६३

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

:
. .

लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } माच १९७२ चैत्र सं०-२०२८ { मूल्य : १.६५

● प्रकाशक :
संकीर्तन भवन
प्रतिष्ठानपुर (झूसी)
प्रयाग

卐
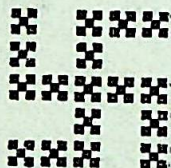
● मुद्रक :
बंशीधर शर्मा
भागवत प्रेस
८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग

छप्पय शतकत्रय

(श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

(राजर्षि भर्तृहरिजी के तीनों शतकों का छप्पय पद्यानुवाद)

संस्कृत भाषा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाला और वैराग्य पथ का शायद ही कोई पथिक होगा जिसने भर्तृहरि शतक का अल्पांश ही सही अध्ययन न किया हो। इन श्लोकों में महाराज भर्तृहरि का सम्पूर्ण ज्ञान वैराग्य मूर्तिमान हो उठा है। संस्कृत भाषा के अध्ययन के अभाव में यह ग्रन्थरत्न आज धीरे-धीरे नवीन पीढ़ी के लोगों के लिये अपरिचित-सा होता जा रहा है। श्री ब्रह्मचारी जी महाराज जैसे समर्थ एवं वैराग्य धन के धनी महापुरुष ही इसके अनुवाद जैसे दुष्कर कार्य को कर सकते थे। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि महाराज जी ने कई वर्षों से होने वाले जिज्ञासु एवं भक्तों के आग्रह को इसके अनुवाद द्वारा पूर्ण किया।

आशा है वैराग्य पथ के पथिक सब प्रकार के जिज्ञासु विद्वान एवं साधारण जन इससे लाभ उठावेंगे। ३०० से अधिक छप्पय की इस पुस्तक का मूल्य २.५० मात्र।

—:o:—

विषय-सूची

विषय — पृष्ठाङ्क

संस्मरण

(१२)

[कारावास की कड़वी मीठी संस्मृतियाँ]

चयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते,
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतातुल्यावस्थां सिकतिलनदी तीर तरुभिः ।।*

(भर्तृ० वै० श० ३६ श्लो०)

छप्पय

जिनितैं हम उत्पन्न भये तिनि पतो न पायौ ।
जिनिके सँग में बढ़े नाम तिनिको बिसरायौ ।।
रहे शेष हम एक वृद्ध बनिकें घबरावें ।
ज्यों ज्यों बीतत दिवस मृत्यु के ढिंग त्यों जावें ।।
नदी कूल के तरु सरिस, बैठे जाई आस में ।
कब प्रवाह आवै प्रबल, पहुँचें यम के पास में ।।

---

* हम जिनसे उत्पन्न हुए वे बहुत दिन हुए परलोक पधार गये। जिनके साथ पढ़े बढ़े खेले उनका नाम भी स्मरण नहीं रहा। इस समय हम ही बचे हैं सो प्रति दिन पतन के कगार पर खड़े हैं। साथी तो चले गये। नदी के किनारे के वृक्ष की भाँति दिन गिन रहे हैं, कब गिर पड़ें।

संसार में जो जन्मा है, वह मरेगा ही। अमर होकर संसार में कोई नहीं आया। जैसे नदी का जल निरन्तर बहता ही रहता है, प्रतिक्षण बदलता रहता है, जो जल बह जाता है, उसका स्थान दूसरा जल ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार संसार में प्रतिक्षण आदमी बालक से युवा, युवा से वृद्ध और वृद्ध बनकर मरते रहते हैं, फिर भी संसार जन शून्य नहीं होता। ज्यों-का-त्यों भरा पूरा ही दिखायी देता है। हरिद्वार में हरि की पौड़ी पर कुम्भ मेले की भीड़ में एक महात्मा चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा था—"देखो, भाई! जितने ये आदमी हैं सौ वर्ष में इनमें से एक भी न बचेगा, फिर भी सौ वर्ष के पश्चात् यहाँ भीड़-भाड़ ऐसी ही बनी रहेगी।" लोग कहते हैं—"भाई, संसार में ऐसा काम करते चलो, जिससे इतिहास के पृष्ठों में हमारा नाम अमर रहे। संसार में कौन अमर रहा है? इतिहास के इतने पृष्ठ हैं कहाँ, कि इतने लोगों को वह अमर रख सके। इतिहास स्वयं भी अमर नहीं।"

यह तो संसार-सागर का प्रवाह है। ऊर्मियाँ हैं, लहरें हैं आती हैं चली जाती हैं। कोई शीघ्र कोई देर में सब स्मृति के गर्त में गिरकर विलीन होते जाते हैं। कुछ लोग किसी के नाम को अमर बनाये रखने को लकीर पीटते हैं, उनके नाम के द्वारा अपने स्वार्थों को साधने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु संसार किसी की अपेक्षा नहीं करता, वह समान गति से चलता जाता है, चलता जाता है, सब को पीछे छोड़ता हुआ बढ़ता जाता है। उसकी चाल कभी मन्द नहीं पड़ती वह चलता ही रहता है, चलता ही रहता है। हम समय काटने को मनोरंजन के लिये, स्वान्तः सुख के लिये या अन्य किसी स्वार्थवश दूसरों का स्मरण करते हैं। शनैः-शनैः वे भी स्मृति पटल से विलीन होते जाते हैं।

एक पाषाण का पर्वत था, उस पर उस प्रदेश के राजाओं

के नाम खोदे जाते थे। होते-होते वह पूरा पहाड़ नामों से भर गया। उसमें एक तिल भी स्थान नहीं रहा। जो वर्तमान राजा था, उसने कहा—"मेरा नाम इस पर्वत पर अवश्य अंकित होना चाहिये।"

सेवकों ने कहा—"श्रीमन्! अंकित हो तो कहाँ हो, पर्वत पर तो एक तिल भर भी स्थान नहीं।"

तब राजा ने कहा—"एक काम करो, किसी एक नाम को मिटा दो, उसके स्थान पर मेरा नाम लिख दो।"

सेवकों ने ऐसा ही किया। उस राजा का नाम अंकित करके राजा से कहा—"राजन्! आपने यह अच्छी प्रथा चला दी। अब आगे लोग दूसरों का नाम मिटाकर अपना नाम प्रचलित कराया करेंगे।"

आज कल यही हो रहा है, पहिले जो नगर, राजपथ, विद्यालय, चिकित्सालय तथा भवन आदि जो आर्य राजाओं के नाम से प्रचलित थे, मुसलमान बादशाहों ने उन्हें अपने नाम से प्रचलित कराया। अँगरेजों ने उन्हें मिटाकर अँगरेज राजाओं तथा विशिष्ट व्यक्तियों के नाम से प्रचलित कराया। अब कांग्रेसी राजनीतिज्ञों ने अपने स्वजन बन्धु बान्धवों तथा नेताओं के नाम पर उनके नाम रख दिये। दूसरे आवेंगे इनको मेंट कर अपने लोगों का नाम रखेंगे। फिर इतिहास में नाम अमर किसका रहा? यह तो भ्रम है, अन्ध विश्वास है। अमर तो भगवान् का ही नाम है, और सब तो ऐसे ही सट्ट-पट्ट मामला है। मन मोदक हैं वैसे तो सभी अपने नाम को अमर रखने का प्रयत्न करते हैं। भवन नहीं बनवा सकते स्वच्छ पाषाण पर अपना नाम ही खुदवा सकते हैं। वे पुराने जीर्ण-जीर्ण भवनों पर कोयले से ही अपना नाम लिख कर अपने को अमर बनाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ दिन पश्चात्

दूसरे मनुष्य उस नाम पर कोयले से अपना नाम अंकित कर आते हैं। असत को सत्य बनाने की, अनित्य को नित्य सिद्ध करने की, नाशवान् को अविनाशी बताने की यह प्रक्रिया सनातन है। यह सदा से रही है, और सदा रहेगी। संस्मरण मानव आत्मतोष के लिये, स्वतः सुख के लिये अथवा स्वार्थसिद्धि के लिये करता है, लिखता है, बोलता है। नहीं तो विस्मृति के महागर्त रूप संसार में किसकी स्मृति रही है? किस-किस की स्मृति कहाँ है, किसके पास इतना समय है, किसके हृदय में इतना स्थान है? विस्मृति न होती तो यह प्राणी पुरानी बातों को स्मरण करते-करते ही मर जाता।

ये मैं सन् २०-२१ की स्मृतियाँ लिख रहा हूँ। ५०-५२ वर्ष हो गये। तब से कितना समय बदल गया, आचार विचार सभी बदल गये। फिर भी पुरानी बातों को सुन-सुनकर लोगों का मनोरंजन होता है। यद्यपि वर्ष दो वर्ष पुरने नीबू आदि के अचार से पेट नहीं भरता, फिर भी स्वाद बदलने को भोजन के साथ लोग अचार चटनी खाते ही हैं। इसी प्रकार अन्तःकरण का आहार तो भागवती कथायें ही हैं। परितृप्ति तो उन्हीं कथाओं से होगी, किन्तु स्वाद बदलने को अचार के स्थान पर ये प्राचीन स्मृतियाँ कुछ लिख दी जाती हैं, जिससे नई संतानें उन दिनों का कुछ आभास प्राप्त कर सके।

हम फाल्गुन शुक्ला सप्तमी (४-३-२२ ई०) को लखनऊ कारावास में पहुँचे। उन दिनों बरेली, काशी, आगरा जेलों के विशिष्ट श्रेणी के राजनैतिक बन्दी लखनऊ लाये जा रहे थे। बहुत से लखनऊ से विशिष्ट श्रेणी से निकाल-निकालकर कुछ को द्वितीय श्रेणी का बनाकर साकेत (फैजाबाद) भेजा जा रहा था। बहुतों को साधारण राजनैतिक बन्दी बनाकर विभिन्न जिलों की

विभिन्न जेलों में भेजा जा रहा था। कारावास का जीवन ही पृथक् था। वहाँ का जगत् ही दूसरा था। कारावास के कैदी बाहर को संसार कहते थे। संसार में जाकर हम यह करेंगे, वह करेंगे, मानों कारावास संसार से बाहर है। कारावास में विचित्र-विचित्र प्रकार की खोपड़ियों के दर्शन हुए। जितना अनुभव परिज्ञान, व्यावहारिक बोध मुझे कारावास में हुआ, उतना कहीं भी नहीं हुआ। प्रान्त भर के सभी जिलों के बड़े से बड़े प्रसिद्ध नेताओं का दर्शन एक साथ ही यहाँ हो गया। जिनमें बहुत से कलहोपजीवी अधिवक्ता (वकील) विदेशी विधानविशेषज्ञ (वैरिष्टर) चिकित्सक (डाक्टर) प्राध्यापक (प्रोफेसर) समाचार पत्र सम्पादक, व्यवसायी, उपदेशक, न्यायकर्ता, न्यायमूर्ति तथा विभिन्न विभागों में कार्य करने वाले त्यक्तपद अधिकारी थे। कारावास में एक गोल चक्कर होता है। उसी के चारों ओर बन्दी आवस–(वार्ड) होते थे। उन सबके द्वार चक्कर में ही खुलते थे। सबकी सीमा पृथक्-पृथक् बनी रहती थी। हमारी सीमा में दो आवास थे। सबके भोजनालय पृथक्-पृथक् होते थे। हमारे पहिले आवास में कुछ बरेली के थे कुछ बुलन्दशहर और कुछ अन्य जिलों के। दूसरे आवास में जिसमें मैं था उसमें अधिकांश काशी के, कुछ बरेली के, कुछ अमरोहा के, कुछ अन्य स्थानों के। काशी के लोगों में सम्पूर्णानन्दजी, कविराज वैद्य कृष्णचन्द्रजी, डा० ताराचन्द्रजी, पं० शिव विनायक मिश्र, ठा० बैजनाथ सिंहजी, सत्यदेव नारायण शाही, गिडवानीजी इतने लोगों के नाम याद हैं, बरेली के पं० वंशीधरजी पाठक, अमरोहा के डा० नरोत्तमशरण, वैद्य नाथूराम, ला० बाबूलाल। देहरादून के पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ, अवध के बाबा रामचन्द्र जी (कृषक नेता) अल्मोड़े के पं० बद्रीदत्त जी पांडेय, पं० चन्द्रदत्त

पांडेय तथा और भी कई थे। हम सब २०–२५ व्यक्ति एक ही आवास में थे। मेरे आवास के सभी लोग शान्त, सरल तथा झगड़े झंझट से दूर रहने वाले थे। मुझसे अत्यन्त स्नेह रखते थे। क्योंकि मैं इन सभी से अवस्था में छोटा था, सबका वात्सल्य प्रेम मेरे ही ऊपर होता था। मनुष्य कुछ तो ऐसे लोगों को चाहता है, जो हमसे प्यार करें, जिनमें हम श्रद्धा करें। कुछ बराबरी के लोगों को चाहते हैं, कुछ ऐसों को भी चाहते हैं, जिन पर हम अपना वात्सल्य स्नेह उड़ेल सकें। मैं साधु था, इसलिये उस नाते से सब मुझमें आदर भाव भी रखते थे, मैं अवस्था में छोटा था, इससे सबका वात्सल्य स्नेह भाजन था। पं० नरदेवजी एकांत में एक पेड़ के नीचे निरन्तर अपने स्वाध्याय में ही लगे रहते। मुझपर उनका अत्यन्त ही स्नेह था। वह जीवन भर बना रहा। जब भी वे प्रयाग आते मुझसे बिना मिले नहीं जाते। बड़े सहृदय मिलनसार और भावुक व्यक्ति थे।

दूसरे बाबू सम्पूर्णानन्द जी। धार्मिक प्रवृत्ति के बड़े ही उत्साही मिलनसार विद्वान थे। राजस्थान डूँगरपुर के किसी महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पद का परित्याग करके आये थे। उनका सम्पूर्णसमय स्वाध्याय में ही व्यतीत होता था। मुझसे उनका सहज स्नेह था। वे सन्त मत के ग्रन्थों को सुनातेथे। योग की ओर भी उनकी रुचि थी। मेरा अधिकांश समय उनके ही साथ व्यातीत होता था।

ठा० वैजनाथ सिंह काशी के नामी मल्लों में से थे, वे भूमिहार थे। व्रजभाषा की कविता भी करते थे वृद्ध पुरुष थे, मुझसे कहते– "आप मुझसे व्रजभाषा में बात किया करें।" तब तक कविता की भाषा व्रजभाषा ही मानी जाती थी। पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा, पं० श्रीधर पाठक, पं० रामनरेश त्रिपाठी और बाबू मैथिलीशरण

गुप्त ये लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे थे, किन्तु समादर तब तक व्रजभाषा का ही था। सभी प्रान्तों के लोग व्रजभाषा में ही कविता करते थे। उनको व्रजभाषा सीखनी पड़ती थी। जो व्रज के हैं उनकी तो मातृभाषा ही थी। पं० रामनरेश त्रिपाठीजी भी हमारे ही साथ जेल में थे। अन्य आवासों (वैरिकों) में बहुत से कवि साहित्यिक लेखक, सम्पादक थे। कभी-कभी संगीत सम्मेलन भी होते। कारावास में ये सब मनोरञ्जन के लिये ही होते। क्योंकि सभी पर कोई काम नहीं था।

पं० शिव विनायक मिश्र विशेष पढ़े-लिखे तो नहीं थे, किन्तु बड़े उत्साही, पुराने कार्यकर्ता और सूझ-बूझ के व्यक्ति थे। उनका मेरे प्रति बड़ा स्नेह था, जेल से छूटने पर काशी में कुछ दिनों तक मैं बड़ी पियरी के उनके भारत प्रेस में ही रहा। अन्त समय तक उनका स्नेह ज्यों-का-त्यों ही बना रहा। यहाँ हमारे धार्मिक उत्सवों में बहुधा भूसी आते रहते थे। ऐसे आदमी अब देखने को कहाँ मिलेंगे।

पं० बद्रीदत्त जी पांडेय। अल्मोड़ा से निकलने वाली साप्ताहिक पत्रिका 'शक्ति' के सम्पादक थे। बड़े उत्साही देशभक्त थे। मैं जब कहता "जि वस्तु मोइ नेंक दे दो।" तो वे बड़े हँसते कहते ब्रह्मचारी जी नेंक मुझे भी दो। पहाड़ी होने के कारण उनके लिये व्रजभाषा एक विचित्र-सी लगती थी। हम खुरजा से आये थे। खुरजा से ५—७ कोश हो शिकारपुर गाँव है। शिकारपुर के मूरख संसार भर में प्रसिद्ध है। किसी को कह दो—ये तो पूरे शिकार—पुरी हैं। अर्थात् मूर्ख हैं। इसीलिये शिकारपुर के लोग अपना गाँव नहीं बताते। आस-पास के किसी गाँव का नाम बता देते हैं, कि शिकारपुर का नाम सुनते ही लोग खिल्लियाँ उड़ावेंगे।

कई बार ऐसा भी हुआ कि शिकारपुर के लोग गङ्गा नहाने

गये। किसी ने ताड़ लिया ये शिकारपुर के हैं। उनके पीछे पड़ गये—"कहाँ रहते हो? कहाँ रहते हो?" तब उन्होंने धोती सम्हाली मुट्ठी बाँधी और शीघ्रता से यह कहते हुए भगे—"हम शिकारपुर के हैं। लो, कर लो हमारा क्या करते हो।"

उनको भागते हुए देखकर सब ताली पीटकर हँसते हुए कहने लगे—"अरे शिकारपुरिया है, शिकारपुरिया है।"

सो पांडेयजी बड़े विनोदी थे, मुझसे पूछते—"ब्रह्मचारी जी! शिकारपुर आपके यहाँ से कितनी दूर है? फिर अपने ही आप कहते 'नेंक दूर होयगो।' सब लोग हँसने लगते। एक तो पढ़े लिखे मिलनसार, दूसरे उन दिनों पहाड़ी बड़े सीधे सादे सरल सत्यवादी छल कपट से रहित हुआ करते थे। पांडेयजी को लखनऊ की गरमी सहन नहीं होती थी, वे बहुत रुग्ण हो गये। कारावास के चिकित्सालय में रखे गये। मैं भी उनके साथ वहीं रहने लगा और शक्ति भर उनकी जितनी बन पड़ी सेवा की। इससे वे मेरे अत्यन्त ही कृतज्ञ रहे। जीवन भर उस उपकार को नहीं भूले। प्रयाग आते तो मुझसे मिलकर जाते। अब इतने सच्चे सरल व्यक्ति कहाँ मिलेंगे।

हमारे आने के कुछ दिनों पश्चात् ही पं० चन्द्रदत्त पांडेय स्यात् बलिया से पकड़कर आये। वे कारावास में स्यात् सबसे छोटे बच्चे थे १४–१५ वर्ष के रहे होंगे। अत्यन्त ही सुन्दर हँसमुख मिलनसार। पहाड़ी होने से अँगरेज के बच्चों जैसे लगते थे। मेरे साथ उनकी अत्यन्त ही घनिष्ठता हो गयी थी। उनको भी वहाँ की गरमी सहन नहीं होती थी। दिन में कई बार नाक से रक्त गिरता था। वे भी जेल के चिकित्सालय में रहे। पांडेजी के के दूर के भतीजे लगते थे। पीछे तो पं० गोविन्द बल्लभ पन्त जी ने अपनी भानजी का विवाह उनसे करके उन्हें अपना निजी

सचिव बना लिया। पीछे सुना वे संसद् सदस्य भी रहे बहुत बड़े आदमी हो गये हैं। पीछे स्यात् एक दो बार काशी में भेंट हुई। फिर मिले ही नहीं जेल की, रेल की और नौका की मैत्री ऐसी ही होती है। जब तक रहे, तब तक बड़े घुल मिलकर यथेष्ट प्रेम प्रकट किया। जहाँ पृथक् हुए, 'राम रामजी, जयरामजी की।' पत्र देते रहना। कौन पत्र देता है ? किसे इतना अवकाश है ?

आये एकहि घाट तैं, उतरे एकहि घाट।
अपने-अपने करम तैं, ह्वै गये बारह बाट॥

हम २५०–३०० आदमी साथ में थे। कैसा परस्पर में स्नेह था, कितनी आत्मीयता थी, अब सबके नाम भी स्मरण नहीं। सब परलोक वासी हो गये। कोई भूला भटका एक आध बचा होगा, सो वह भी बोरिया बिस्तर बाँधे जाने को तैयार ही बैठा होगा। कितना अनित्य यह संसार है, कितना क्षणभंगुर यह जीवन है, कितना नश्वर यह शरीर है, फिर भी जीव कितना अभिमान करता है। मैं ऐसा हूँ। मैं वैसा हूँ।

प्रान्त भर के सभी प्रतिष्ठित सभी नेता वहीं एक कठघर में बंद थे। प्रान्तीय राष्ट्रीय महासभा की कार्यकारिणी परिषद् को सरकार ने अवैध घोषित कर दिया था। उसके ५५ सदस्य प्रयाग में पकड़ लिये थे। वे सबके सब यहीं थे। प० मोतीलाल नेहरू, बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन, श्री रणेन्द्रजी वसु, दो तीन मालवीय, पं० जवाहरलाल नेहरू, जार्जजोजिफ, देवीदास गाँधी ये सब अन्य आवासों में थे। पं० मोतीलालजी नेहरू और कई व्यक्ति यूरोपियन आवास (सिव्लिब्लाक) में थे। नित्य नई सभायें बनतीं, नित्य अधिकारियों से झगड़ा होता। विचित्र-विचित्र

खोपड़ी के लोग एकत्रित हुए थे। कुछ ऐसे थे, कि जब तक दिन में एक दो बार झगड़ा टंटा न हो जाय तब तक उनकी रोटियाँ ही न पचे। कुछ लोगों को दूसरों को चिढ़ाने में ही आनन्द आता। एक दल ऐसा भी था, कि किसी के घर से कोई मिठाई या वस्तु आई है, रात्रि में उसके यहाँ से जाकर चुरा लाये और हँसते-हँसते सब मिलकर उसे चट्ट कर गये। हमारे आवास में आचार्य कृपलानी, सिकन्दराबाद के पं० मुरारीलाल जी शर्मा के पुत्र विश्वशर्मा तथा और भी कई बरेली मुरादाबाद के थे।

जेल में विचित्र-विचित्र खेल होते, भाँति-भाँति की सभायें होती। कबड्डी होती, मेरे बड़े-बड़े बाल थे। जब मैं बाल बखेर कर कबड्डी खेलता सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते। कभी पशु सम्मेलन होता। कुछ लोग पेड़ों पर चढ़कर बन्दरों की भाँति एक पेड़ से कूदकर दूसरे पर, दूसरे से कूदकर तीसरे पर जाते। कोई मोर बनकर नाचते। जो उपनेत्र (चश्मा) लगाते उन्हें उल्लू की संज्ञा देते। कभी संगीत सम्मेलन होता, कभी कवि सम्मेलन। कवि सम्मेलनों में हास्यरस की कतिवायें सबको प्रिय होती। कभी छोटी-छोटी बातों पर आपस में झगड़ा होता। पहिले सबको डेढ़ रुपये नकद मिलते थे। कुछ लोग वहाँ भी बचाने लगे। वस्तुएँ मँगवा कर घर भिजवाने लगे। तब सरकार की ओर से वस्तुएँ दी जाने लगीं। दूध, दही, साक, भाजी, आदि यथेष्ट मात्रा में मिलते किन्तु उपनिषदों में लिखा है। संसार भर का धान्य, धन, पशु, स्त्रियाँ एक ही व्यक्ति को मिल जायँ तो भी उसकी तृप्ति न होगी, इसलिये शान्ति धारण करो। किन्तु वहाँ तो सब शान्ति भंग करके ही आये थे। शान्ति किसे थी। ऐसी लड़ाई होती कि हमने ऐसी कंजरों में भी नहीं देखी। हम तो सामान्य घर के संस्कृत के विद्यार्थी थे। हमने इतना मूल्यवान भोजन, इतने ठाट-

बाट देखे भी नहीं थे। वहाँ एक से एक धुरंधर, एक से एक विद्वान् और प्रथम श्रेणी का जीवन बिताने वाले थे। हम तो अवस्था में छोटे, फिर हंसों में काक सदृश। फिर साधु वेष। हमें अपनी मर्यादा का भी ध्यान था। अतः ऐसे किसी झगड़े झंझट में नहीं पड़ते। चुपचाप दूर रहकर इन नाटकों को देखते रहते। अंगरेजी के विद्वानों के अतिरिक्त वहाँ साधु संन्यासी भी थे। बरहज के परमहंस श्री बाबा राघवदास जी बड़े सरल शान्त सबसे पृथक् रहते। एक स्वामी ब्रह्मानन्दजी भारती थे। पहिले कभी नाभा में मुंसिफ थे। बोलचाल रहन-सहन सब स्त्रियों जैसा लोग चिढ़ाने को उन्हें देवीजी कहते। एक शङ्कराचार्यजी के शिष्य स्वामी भास्करानन्द तीर्थ थे, उनका क्या कहना पूरे अग्निशर्मा ही थे। स्वामी सहजानन्द जी बड़े प्रसिद्ध नेता थे हमारे यहाँ के स्वामी योगानन्द जी यति शान्त प्रकृति के थे। एक स्वामी वासुदेवाश्रम भी थे और भी कई बैरागी वैष्णव तथा अन्य धार्मिक व्यक्ति थे। पूरा जमघट था। सभी श्रेणी के थे। प्रेम की सीमा नहीं थी और झगड़ा टंटा भी असीम होता था। कभी-कभी तो लोग इतने भी नीचे स्तर पर उतर आते थे, कि देखकर आश्चर्य होता था, कि इतने बड़े आदमी ऐसी हलकी बात भी कह सकते हैं क्या? जीव का स्वभाव होता है वह प्यार किये बिना भी नहीं रह सकता और लड़ाई झगड़ा किये बिना भी नहीं रह सकता। बाहर तो बात ढकी-मुदी रहती है। झगड़ा करने की इच्छा हुई तो घर में स्त्री बच्चों से, नौकरों से झगड़ा कर लिया। प्यार करने को अपना लड़का लड़की, पत्नी सगे सम्बन्धी हैं ही। किन्तु यहाँ कारावास में तो सब खुल्लमखुल्ला करना पड़ता है। प्यार भी साथियों से ही किया जाता है और लड़ाई भी उन्हीं से करनी पड़ती है। जीव धर्म है। जीव इसके बिना रह नहीं सकता इसमें दोष किसी का नहीं।

बाहर कोई त्योहार मनाता हो न मनाता हो, किन्तु जेल में सब त्योहार विधिवत् मनाये जाते थे। वहाँ दूसरा कोई काम था ही नहीं। हम जब लखनऊ आये उसके ९-१० दिन पश्चात् ही होली थी। जेल में ऐसी होली हुई कि बाहर स्यात् ही कहीं मिले। उस दिन जेल का एक भी अधिकारी भीतर नहीं आया। एक दिन पहिले ही खाद्य सामग्री बाँट दी गयी। होली का जो हुड़दंगा मचा वह देखने ही योग्य था। हिन्दु मुसलमान का कोई भेदभाव नहीं। यही नहीं हिन्दुओं से अधिक उत्साह मुसलमानों में था। कैसा स्नेहमय, आनन्दमय, उल्लासमय, उत्साहमय दृश्य था। जेल में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं दिखायी देता था, जो एड़ी से चोटी तक रंग में रंगा हुआ न हो। जेल के साधारण कैदी भंगी तक को रंग दिया गया। उस दिन सबको सबसे मिलने की छूट थी, सब आवासों के ताले खुले थे। सब एक दूसरे से गले लगा कर मिल रहे थे। प्रेम की सरिता बह रही थी। हँसी के फुव्वारे छूट रहे थे। सब अपने आपे को भूले हुए थे। कोई नाच रहे थे, कोई कबीर गा रहे थे कोई स्वाँग बनाकर मुँह मटका रहे थे। जेल की जैसी होली फिर देखने को नहीं मिली।

एक प्रोफेसर रंगा अय्यर थे, उन्होंने श्रीकृष्ण की मूर्ति लटकायी ५-६ दिन तक जेल में उसी की चर्चा रही। किसी न किसी बात को लेकर नित्य ही कहासुनी होती रहती।

फिर ईद आई हिन्दु मुसलमान सभी ने ईद को बड़े उत्साह से मनाया। मुसलमानों ने सभी हिन्दुओं को मिठाई बाँटी। कैसी एकता थी, उस समय। यदि ऐसी एकता लोग बाहर भी रखें तो ये मार-काट दंगे उपद्रव क्यों हों, किन्तु लोग दंगे करने को भी विवश हैं। भगवान् ने यह मानव खोपड़ियाँ कैसी-कैसी बनायी हैं। उनके पास न जाने कितने साँचे होंगे। जिस साँचे में एक

आदमी को ढाल दिया। फिर उस चतुर-चितेरे ने उसे छूआ तक नहीं। सबकी आकृति, प्रकृति, स्वभाव, रहन-सहन सभी भिन्न। तभी तो कहावत है "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना:" जितने सिर उतने स्वभाव। जेल में सभी प्रकार के दृश्य दिखायी देते थे।

जन्म का दृश्य तो दिखायी नहीं देता था, क्योंकि वहाँ स्त्रियाँ नहीं थीं। रोग के, शोक के, मृत्यु के सभी दृश्य वहाँ अपूर्व थे। देवरिया के एक मुख्त्यार अवधनारायणजी थे। उनकी मृत्यु जेल के चिकित्सालय में हो गयी। उसका कैसा कारुणिक दृश्य था। सभी अपने आत्मीय बन्धु की मृत्यु के सदृश दुखी थे। शवयात्रा कितने ढंग से निकाली गयी। उस दिन सबको छूट थी सभी शवयात्रा में सम्मिलित हुए। सभी अधिकारियों को दोष दे रहे थे। अधिकारियों के भी मुख फक्क पड़े हुए थे। नगर से भी शव को लेने फाटक पर बहुत लोग आये थे। फाटक तक सब गये। शव उन्हें दे दिया गया। कई दिनों तक इसकी चर्चा रही। सरकार की ओर से भी इसकी छान बीन हुई। किन्तु सब बात आयी गयी हो गयी।

कोई रोग ग्रस्त होता, तो सभी उसके साथ मौखिक सहानुभूति प्रदर्शित करते। बहुत लोग सब प्रकार से उसकी सेवा भी करते। मेरे दायें हाथ की बीच की उँगली में गदही विसैली (बिटली) हो गयी। उँगली सूज आई। अत्यधिक पीड़ा थी। सबने निश्चय किया जब तक इसकी शल्य क्रिया न होगी तब तक अच्छी नहीं होगी। वहाँ चिकित्सकों की कमी थोड़े ही थी। जेल के चिकित्सक अशरफीलाल से भी बड़े-बड़े चिकित्सक हमारे थे। मेरी उँगली की शल्य चिकित्सा में १०। १२ चिकित्सकों ने मिलकर कार्य किया कानपुर के डा० मुरारीलाल, डा० जवाहर लाल, काशी के डा० ताराचन्द्र, कविराज वैद्य कृष्णचन्द्र, बस्ती के

डा० विश्वनाथ मुकर्जी और न जाने कितने डाक्टर थे। डा० जवाहरलालजी ने बिना औषधि सुँघाये चीरा दिया। मैं बहुत वेग से चिल्ला उठा। चिकित्सालय की बगल में ही पं० जवाहर लाल नेहरू, देवीदास गाँधी रहते थे। वे चिल्लाहट सुनकर तुरन्त चिकित्सालय में आ गये। क्या बात है, क्या बात है।

किसी ने बताया—"ब्रह्मचारी जी की उँगली चीरी जा रही है। वे दोनों तब तक वहाँ खड़े रहे जब तक शल्य क्रिया पूरी नहीं हुई। मेरे साथी सहयोगियों की सहानुभूति का तो कहना ही क्या था। सबने अपने छोटे भाई की भाँति, पुत्र की भाँति मेरी देख रेख की। सभी प्रकार की सुविधाओं का ध्यान रखा। लगभग एक महीने तक वह घाव अच्छा नहीं हुआ। तीन बार घाव को चीरा गया। जब नित्य घाव में आर पार औषधि से भीगा कपड़ा डाला जाता, तब महान् कष्ट होता था। वे दिन अब भी याद आते हैं तो रोमाञ्च होते हैं। बीच की उँगली में वह घाव चिरा हुआ चिन्ह अभी तक विद्यमान है उसी में लेखनी लगाकर मैं लिख रहा हूँ और वह सम्पूर्ण का सम्पूर्ण दृश्य मेरी आँखों के सामने नाच रहा है।"

जेल की अनन्त स्मृतियाँ हैं। वे सब स्मरण भी नहीं रहीं। स्मरण करके लिखना चाहूँ, तो लिख भी सकता हूँ, किन्तु व्यर्थ की बात बढ़ाने से लाभ ही क्या? ये तो लौकिक बातें हैं। इनसे तृप्ति नहीं होने की। तृप्ति तो भागवती कथाओं से ही होगी। वही अन्तःकरण का पौष्टिक परिपूर्ण आहार है। यह तो स्वाद बदलने को अचार चटनी के सदृश है। बहुत चटपटा भी शरीर के लिये हानि कारक ही होता है। अतः अब आज यहीं विश्राम। आगे की चटनी अगले अंक में चाट सकते हैं।

अधिक वैशाख शु० पूर्णिमा सं० २०२९
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
झूसी (प्रयाग)

प्रभुदत्त

अश्वपति तथा सत्ययज्ञ और इन्द्रद्युम्न सम्वाद

[१७६]

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥*

(छां० उ० ५ अ० १३ खं० १ मं०)

छप्पय

नृप बोले—यह विश्वरूप वैश्वानर मुनिवर ।
याही तैं नित रहैं विश्वसाधन नित तव घर ॥
अगनित दासी दास हार सब विपुल पदारथ ।
जठर अग्नि अति तीव्र ब्रह्मतेज हु बहु हय रथ ॥
अन्य उपासक हू लहैं, करि उपासना किन्तु मुनि ।
है वैश्वानर नेत्र इत—नहिँ आवत तो अन्ध मुनि ॥

---

* राजा अश्वपति ऋषिकुमार सत्ययज्ञ से कह रहे हैं—"हे प्राचीन योग्य ! तुम किस आत्मा की उपासना किया करते हो ? सत्ययज्ञ ने कहा—"भगवन् ! राजन् ! मैं तो आदित्य की उपासना करता हूँ ।" इस पर राजा ने कहा—"यह 'विश्वरूप' नाम का वैश्वानर आत्मा है । इसकी उपासना के प्रभाव से ही बहुत-सा विश्वरूप सम्बन्धी वैभव दृष्टिगोचर हो रहा है ।"

विद्युत का संग्रह स्थल एक है। स्थान-स्थान पर उसे ग्रहण करने के संयन्त्र लगे हैं। कोई उस संयन्त्र से घर में प्रकाश करते हैं, कोई पंखे चलाते हैं, कोई उसके द्वारा कूप से जल निकालते हैं, कोई चक्की चलाकर आटा पीसते हैं, कोई कुट्टी कूटते हैं कोई तिल, सरसों पेर कर उससे तैल बनाते हैं। कोई वस्त्र बनाते हैं, कोई सूत कातते हैं, कोई, गुड़, शक्कर तथा चीनी आदि बनाते हैं। कोई सुरा निर्माण करते हैं, कोई उसी से रोगों का उपचार करते हैं। यद्यपि ये सब कार्य होते तो विद्युत से ही हैं, किन्तु ग्रन्थ छापने वाला कहे—"विद्युत् से केवल ग्रन्थ ही छपते हैं, आटा पीसने वाला कहे—"विद्युत् से केवल आटा ही पीसा जाता है, पानी निकाने वाला कहे विद्युत् से केवल जल ही निकाला जाता है, तो यह विद्युत् के महत्त्व को न्यून करना है। विद्युत् में तो प्रकाशन शक्ति, धारण शक्ति, पोषण शक्ति, शोषण शक्ति, पाचन शक्ति, रोग विनाशक शक्ति, मारणशक्ति आदि-आदि सभी शक्तियाँ हैं। जो विद्युत को सर्वकार्यरता के रूप में जानते हैं, वास्तव में वे ही विद्युत् के विशेषज्ञ हैं, जो उसके एक देशीय लाभ के प्रशंसक हैं, कार्य तो उनका भी समुचित रूप से होगा, फिर भी वे विशेषज्ञ नहीं कहे जा सकते। उन्हें अल्पज्ञ—अल्प लाभ प्रापक—ही कहा जायगा। यही बात विराट् वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में है। ये समस्त शक्तियाँ विराट् द्वारा—वैश्वानर आत्मा द्वारा-ही संचालित हैं, किन्तु अज्ञानी लोग विराट् के महान् रूप की उपासना न करके उसके अंगभूत—अवयवों की उपासना में ही संलग्न रहते हैं। इसी कारण वे उसके सर्वात्मरूप के ज्ञान से वंचित रह जाते हैं। कोई दयालु विशेषज्ञ ही उनके इस संकुचित-परिमित भाव को दूर करने में समर्थ हो सकता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! उपमन्यु तनय प्राचीनशाल से

उनके उपास्य के सम्बन्ध में पूछने के अनन्तर राजर्षि अश्वपति ने पुलुष–पुत्र सत्ययज्ञ से पूछा। प्रतीत होता है उनका एक नाम प्राचीन योग्य भी होगा। या गुणात्मक सम्बन्ध होगा कि आप हों तो नवीन ही अवस्था के किन्तु योग्यता में प्राचीनों के सदृश हो। कुछ भी हो राजा ने उन्हें इसी नाम से सम्बोधित करके पूछा—"हे प्राचीन योग्य ! अब आप भी बताइये कि आप किस आत्मा की उपासना करते हैं ?"

इस पर अत्यन्त ही नम्रता के साथ सत्ययज्ञ ने कहा—"हे पूजनीय भगवन्! राजन्! मैं तो आदित्य रूप में ही वैश्वानर आत्मा की उपासना करता हूँ।"

इस पर महाराज अश्वपति ने कहा—"यह तो विश्व रूप की उपासना हुई।"

सत्ययज्ञ ने पूछा—"क्या यह वैश्वानर आत्मा नहीं है ?"

अश्वपति ने कहा—"क्यों नहीं, वैश्वानर आत्मा की ही उपासना है, किन्तु समग्र वैश्वानर की न होकर उसके एक अङ्ग की उपासना है। जिसके द्वारा विश्व का रूप देखा जा सके उस आदित्य की उपासना अङ्ग भूत उपासना है।"

इस पर सत्ययज्ञ ने पूछा—"तो क्या यह उपासना निरर्थक है।"

अश्वपति ने कहा—"निरर्थक कौन कहता है। सार्थक ही है। यदि निरर्थक होती तो आप इतने वैभवशाली कैसे बन जाते ? इस उपासना के ही प्रभाव से आप इतने वैभवशाली हो गये हैं, आपके कुल में बहुत से विश्वरूप सम्बन्धी साधन एकत्रित हो गये हैं। आप समस्त सुख सुविधाओं से सम्पन्न श्रीमान बन गये हैं। आपके यहाँ बलवती खच्चरियों से युक्त रथ हैं। सैकड़ों दास दासियाँ आपके यहाँ विद्यमान हैं। सुन्दरी दासियाँ बहुमूल्य सुवर्ण

के हारों द्वारा मण्डित हैं। आपकी जठराग्नि भी तीव्र है। आप जो अन्न भक्षण करते हैं, वह भली-भाँति पच जाता है। आप पुत्र, पौत्र, स्वजन-बन्धु-बान्धवों का आनन्द सहित दर्शन कर रहे हैं। आपके कुल के लोग सब ब्रह्मवर्चस सम्पन्न हैं। आप ही नहीं जो भी आदित्य रूप से इस आत्मा की उपासना करेगा, उसे भी आप के सदृश वैभव की प्राप्ति होगी उसके यहाँ भी वाहन, धन, सम्पत्ति, संतति तथा ब्रह्मतेज की प्राप्ति होगी। किन्तु मुनिवर! यह वैश्वानर नहीं है। यह तो उस वैश्वानर आत्मा का नेत्र स्थानीय है।"

आपने बड़ा अच्छा किया, जो आप वैश्वानर आत्मा के उपदेश के निमित्त मेरे पास आ गये। यदि आप यहाँ न आते तो अन्धे हो जाते।

शौनकजी ने पूछा—"अन्धे हो जाने का भाव क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! श्रुति और स्मृति ये ही नेत्र हैं, जो इन नेत्रों से रहित है, वह अन्धे व्यक्ति के समान है। राजा के कहने का भाव यह ही है, कि यदि आप अङ्गभूत आत्मा को समग्र अंगी मानकर उपासना करते रहते, तो तुम्हें ज्ञान की प्राप्ति न होती, अन्धों के सदृश संसार में इधर से उधर भटकते रहते। पुनः-पुनः जन्मते और मरते रहते। अच्छा हुआ आप वैश्वानर की जिज्ञासा से मेरे समीप आ गये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! प्राचीनशाल और सत्ययज्ञ से पूछने के अनन्तर महाराज अश्वपति भल्लवि के पुत्र इन्द्रद्युम्न से उनके उपास्य के सम्बन्ध में पूछते हुए कहने लगे—"हे वैयाघ्रपद गोत्रीय मुनिवर इन्द्रद्युम्नजी! आप भी अपने उपास्य के सम्बन्ध में बताइये। आप किस आत्मा की उपासना करते हैं?"

परम नम्रता के साथ मुनि पुत्र इन्द्रद्युम्न ने उत्तर दिया—

"पूज्जनीय भगवन्! राजन्! मैं तो वायु की उपासना करता हूँ।"
राजा ने कहा—"यथार्थ है, यह तो पृथग् वर्मा उपासना है?"
इन्द्रद्युम्न ने पूछा—"क्या यह वैश्वानर उपासना नहीं है?"
राजा ने कहा—"यह समग्र वैश्वानर उपासना नहीं है। यह तो वैश्वानर का अंश है। केवल वैश्वानर का प्राण है।"
इन्द्रद्युम्न ने पूछा—"तो क्या यह उपासना व्यर्थ है?"
राजा ने कहा—"व्यर्थ क्यों है, सार्थक ही है। इसी उपासना के प्रभाव से तो पृथक्-पृथक् देशवासी आपके लिये पृथक्-पृथक् उपहार लाते हैं। आपके पीछे जो रथ की पंक्तियाँ चलती हैं, उनमें पृथक्-पृथक् रंग के पृथक्-पृथक् रूप के, पृथक्-पृथक् देशों के, पृथक्-पृथक् जातियों के घोड़े खच्चर जुते रहते हैं, ऐसे बहुत से रथ आपके पीछे-पीछे चलकर आपका अनुगमन करते हैं। आपकी जठराग्नि तीव्र है आप जो खाते हैं वह सम्यक् प्रकार से पच जाता है। आपके कुल में पुत्र पौत्र है, सभी पुरुष ब्रह्मवर्चस्वी हैं। आपकी ही भाँति जो वायु आत्मा की उपासना करेगा उसके यहाँ, वाहनों की, कुटुम्ब परिवार की, ब्रह्म तेजस्वी पुरुषों की कमी न रहेगी। किन्तु ब्रह्मन्! यह समग्र वैश्वानर आत्मा की उपासना नहीं है। यह उस आत्मा का प्राण है। अच्छा हुआ आप समग्र वैश्वानर आत्मा की जिज्ञासा से मेरे पास आ गये। आप यदि न आते तो निष्प्राण हो जाते। आपके प्राण उत्क्रमण कर जाते।"
शौनकजी ने पूछा—"प्राण उत्क्रमण कर जाते, इसका तात्पर्य क्या है?"
सूतजी बोले—"भगवन् यह कहने की परिपाटी है, किसी चिकित्सक के पास जाओ, आपका रोग देखकर वह यही कहेगा—

अच्छा हुआ जो आप मेरे पास आ गये, नहीं यह रोग ऐसा है, कि प्राण लेकर ही छोड़ता है। अब कोई चिन्ता की बात नहीं।"

ब्रह्मन्! बिना समग्रज्ञान के प्राणी मृतक सदृश ही हैं। अधूरे ज्ञान वाला तो जीते हुए भी मृतक ही है। अतः समग्र वैश्वानर आत्मा को न जानते थे, एक प्रकार से आप प्राणहीन ही रहते। यही इसका अभिप्राय है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब तक राजा ने प्राचीन-शाल, सत्ययज्ञ और इन्द्रद्युम्न इन तीन ऋषिकुमारों से उनकी उपासना के सम्बन्ध में पूछा। शेष तीनों से वे जैसे पूछेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

पुनि नृप बोले–इन्द्रद्युम्न! तुम कवन उपासन।
वायु उपासन करूँ कह्यो मुनि सुत भूपति सन॥
पृथक् वर्त्म यह अन्न पृथक् उपहार मँगावै।
रथ युत संपति मिलै पचै जिहि अन्नहिँ खावै॥
किन्तु प्राण यह आत्म को, यदि नहिँ आते मुनि! इतै।
प्राण हीन है जात तुम, भये ज्ञान बिनु नर किते॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के पंचम अध्याय में
त्रयोदश चतुर्दश खण्ड समाप्त।

राजर्षि अश्वपति और जन आदिक मुनियों का सम्वाद

(१८०)

अथ होवाच जनँ शार्कराक्ष्य कं त्वात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥*

(छां० उ० ५ अ० १५ खं० १ मं०)

छप्पय

पुनि नृप जनतैं कहैं—उपासन तुमहु बताओ ।
'मम उपास्य आकाश' नाम बहुसंज्ञ कहायो ॥
याही ते धन विपुल तीव्र जठराग्नि कहाओ ।
ब्रह्मतेज प्रियदरस श्रेष्ठ कुलमें कहलाओ ॥
सब साधक हू फल लहैं, किन्तु मध्यतन भाग वह ।
यदि इत नहिँ आवत तुरत, नष्ट होत 'संदेह' यह ॥

---

* इसके पश्चात् राजा अश्वपति ने ऋषिकुमार जन से कहा—"हे शार्कराक्ष्य ! तुम भी बताओ तुम किसकी उपासना करते हो ?" जन ने कहा—पूजनीय भगवन् ! राजन् ! मैं तो आकाश की उपासना करता हूँ ।" इस पर राजा ने कहा—जिसकी तुम उपासना करते हो यह तो बहुल संज्ञक वैश्वानर आत्मा है ।" इसी कारण सन्तति तथा धन के कारण तुम बहुल हो गये हो ।

श्री मद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में अत्यन्त ही संक्षेप में सृष्टि का जैसा अद्‌भुत वर्णन है। वैसा सुस्पष्ट वर्णन कहीं भी देखने में नहीं आता। श्रीमद्भागवत के बारहों स्कन्धों में दूसरा स्कन्ध ही बहुत क्लिष्ट और गम्भीर है। उसे यथार्थ रूप में समझने वाले बहुत कम विद्वान् मिलते हैं। मुझे एक महात्मा ने द्वितीय स्कन्ध के सम्बन्ध में एक बड़ी ही सुन्दर मनोरञ्जक बात सुनायी।

उन्होंने कहा—"लोग कहते हैं, ये पंडितजी भागवत के अद्वितीय विद्वान् हैं, इसका क्या अर्थ हुआ ?"

मैंने कहा—"यही अर्थ है, कि ये भागवत के बहुत बड़े विद्वान् हैं, इनकी टक्कर का दूसरा नहीं।"

वे बोले—"नहीं, यह अर्थ नहीं है। इसका अर्थ है ये पंडित ग्यारह स्कन्धों के तो विद्वान् हैं, केवल द्वितीय स्कन्ध को छोड़कर।

बात तो हँसी की थी, किन्तु वास्तविक बात यही है, कि विधिवत् दूसरा स्कन्ध समझ में आ गया, तो आगे की भागवत समझ में आ जायगी। द्वितीय स्कन्ध के पहिले अध्याय में तो ध्यान-विधि बताकर भगवान् के विराट् स्वरूप का संक्षेप में वर्णन किया है। दूसरे में परमात्मा के स्थूल सूक्ष्म रूपों की धारणा बताकर क्रम मुक्ति और सद्योमुक्ति का स्वरूप बताया है। तीसरे में कामनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासनायें बतायी हैं और उपनिषदों से भी अधिक विशेषता यह बतायी है, कि भगवद्-भक्ति की प्रधानता का निरूपण किया है।

प्रथम स्कन्ध के अन्त में शुकदेवजी के आने पर राजा परीक्षित् ने यही प्रश्न किया था, कि जिसकी मृत्यु निकट आ गयी है, उसे क्या-क्या करना चाहिये और क्या-क्या छोड़ना चाहिये।' केवल इसी प्रश्न के उत्तर में भगवान् शुक ने ये तीन अध्याय कह

दिये और सार यही बताया कि पुरुष को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये। इस पर शौनकजी ने आगे की जिज्ञासा की, कि राजा परीक्षित्जी ने शुकदेवजी से पुनः क्या-क्या प्रश्न किये ? इस पर चौथे अध्याय में राजा ने बहुत से प्रश्न एक साथ ही कर डाले। इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर सम्पूर्ण भागवत में हैं। कथा पाँचवें अध्याय से आरम्भ होती है। पाँचवें अध्याय में सृष्टि कैसे हुई इसका वर्णन है। नारदजी ने अपने पिता ब्रह्माजी से बहुत से प्रश्न किये और कहा—"आप सर्वज्ञ हैं, आप ही स्वतन्त्रता से इस सम्पूर्ण सृष्टि को करते हैं, आप सर्व स्वतन्त्र हैं, क्या आपसे भी कोई बड़ा है ?

इस पर हँसकर ब्रह्माजी ने कहा—"अरे, भैया ! हम काहे के स्वतन्त्र हैं। अंशी तो भगवान् हैं। जैसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, ग्रह नक्षत्र तारे उनके अंश हैं वैसे ही मैं भी अंश हूँ वे भगवान् ही द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव ये सब ही बन जाते हैं। ये सब भगवान् के ही अंशभूत हैं। जब उनकी एक से बहुत होने की इच्छा होती है, तभी वे काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार करके त्रिगुणात्मक सृष्टि को करते हैं। फिर ब्रह्माण्ड कैसे बना और भगवान् अन्तर्यामी रूप से उसमें कैसे प्रविष्ट हुए इसका वर्णन किया है। फिर उन्होंने उसे विराट् पुरुष (वैश्वानर) के शरीर में इस जगत् का उपासना के निमित्त कई प्रकार से वर्णन किया। उसी विराट् के कमर से नीचे के अंगों में सात पातालों को और पेड़ से ऊपर के अंगों में सात स्वर्ग ऊपर के लोकों की कल्पना की।

दूसरी कल्पना यह की, कि ब्राह्मण उसके मुख हैं, क्षत्रिय भुजायें हैं, वैश्य जाँघ हैं और शूद्र पैर हैं।

तीसरी कल्पना यह की, कि पैरों से लेकर कटि पर्यन्त तो

भूलोक तथा अतल वितलादि सातों भू के विवर हैं। नाभि में भुवर्लोक, हृदय में स्वर्गलोक, वक्षःथल में महर्लोक, कंठ में जन-लोक, दोनों स्तनों में तपलोक, मस्तक में ब्रह्मलोक या सत्य-लोक है।

चौथी कल्पना यह की, कि कमर में अतल, जाँघों में वितल, घुटनों में सुतल, पिंडलियों में तलातल, टखनों में महातल, पंजे और एड़ियों में रसातल और तलुओं में पाताल है। कमर के ऊपर के सातों अंगों में सात ऊपर के स्वर्गादिलोक हैं।

पाँचवीं कल्पना यह की कि चरणों में भूलोक नाभि में भुव-र्लोक और सिर में स्वर्गलोक। इस प्रकार समस्त विश्व ब्रह्माण्ड उन्हीं का रूप है। इस वैश्वानर उपासना में द्युलोक (स्वर्गादि समस्त लोक) इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक है। आदित्य उसके नेत्र हैं, वायु, प्राण, आकाश शरीर का मध्य भाग, जल उसका वस्ति स्थान (जहाँ मूत्र एकत्रित होता है) और पृथ्वी उस वैश्वानर आत्मा के चरण हैं। ये सब संकुचित उपासनाओं से हटाकर महान् विराट् की उपासना के निमित्त कल्पनायें हैं। वेद का वचन है दीर्घ देखो, ह्रस्व को मत देखो पर को देखो अपर को मत देखो, अल्प को मत देखो महान् को देखो। यद्यपि पृथ्वी जल, तेज, वायु आकाश तथा स्वर्ग सब आत्मा के ही अंश हैं, किन्तु तुम जिस अंशी के ये सब अंश हैं उसकी उपासना करो नहीं तो तुम संसार चक्र में परिभ्रमण ही करते रहोगे। जन्म मृत्यु के चक्कर से नहीं छूट सकोगे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तीन मुनि पुत्रों से पूछने के अनन्तर राजर्षि अश्वपति ने चौथे जन से पूछा—"हे शार्कराक्ष्य! तुम किसकी उपासना करते हो?"

जन ने कहा—"मैं तो आकाश की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"यह तो बहुल संज्ञक आत्मा की उपासना है।"

जन ने कहा—"क्या यह वैश्वानर नहीं है ?"

राजा ने कहा—"है क्यों नहीं, किन्तु यह समग्र वैश्वानर नहीं है। यह वैश्वानर का सन्देह (शरीर का मध्य भाग) ही है।"

जन ने पूछा—"तो क्या इसकी उपासना निरर्थक है ?"

राजा ने कहा—"निरर्थक क्यों है। सार्थक ही है इसी उपासना के प्रभाव से तो तुम धन सम्पत्ति और पुत्र परिवार के कारण वहुल हो गये हो। खाते हुए अन्न को विधिवत् पचाते हो, अपने प्रियजनों का दर्शन करते हो, जो भी इस आकाश रूप वैश्वानर आत्मा की उपासना करेगा, उसे भी ये सब लौकिक वैभव प्राप्त हो जायँगे, किन्तु वैश्वानर के केवल शरीर के मध्य भाग को उपासना संकुचित उपासना है, वह लौकिक फल ही दे सकती है। जन्म मृत्यु से छुटकारा नहीं दिला सकती। अच्छा तुम मेरे पास आ गये नहीं तो तुम्हारा शरीर का मध्य भाग नष्ट हो जाता।

शौनकजी ने पूछा—"मध्य भाग नष्ट होने का अभिप्राय क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"इसका अर्थ यह है, कि तुम मृत्यु को प्राप्त हो जाते। तुम्हारा शरीर नष्ट हो जाता।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! मरते तो सभी हैं। जो शरीरधारी है, वह एक न एक दिन मरेगा अवश्य यह क्या बात हुई ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! ज्ञानी कभी नहीं मरता। जो मरता है उसका जन्म अवश्य होता है, जिसका जन्म होता है, वह मरता अवश्य है। ज्ञानी जन्म-मरण से रहित होता है। तुम मर जाते अर्थात् अज्ञानी बने रहते। यही इसका भाव है।

हाँ तो चार ऋषिकुमारों से पूछने के अनन्तर राजा ने पाँचवें अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से पूछा—"हे वैयाघ्रपद्य ! तुम भी बताओ, तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ?"

परम नम्रता के साथ बुडिल ने कहा—"माननीय भगवन् ! राजन् ! मैं तो जल की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह रयि संज्ञक है।"

बुडिल ने कहा—"क्या यह वैश्वानर नहीं है ?"

राजा ने कहा—"हे क्यों नहीं। किन्तु समस्त वैश्वानर नहीं है, उसका एक अंग है।"

बुडिल ने पूछा —"तो इसकी उपासना का कोई फल नहीं ?"

राजा ने कहा—"फल क्यों नहीं। रयि कहते हैं, धन को। इसी उपासना के कारण तो तुम धनवान् और पुष्टिवान् हो। तुम खाये हुए अन्न को यथेष्ट पचाते हो, प्रिय दर्शन करते हो, जो भी इस जल रूप वैश्वानर की उपासना करता है उसको ये सब धन वैभव आरोग्यता सन्तति की प्राप्ति होती है, फिर भी यह वैश्वानर आत्मा का वस्तिस्थान है, अच्छा हुआ तुम यहाँ मेरे पास आ गये यदि यहाँ मेरे पास न आते तो तुम्हारा वस्तिस्थान गिर जाता।"

शौनकजी ने पूछा—"वस्तिस्थान गिर जाता इसका क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"विराट भगवान् के जल को—वीर्य को—ही जीवन कहते हैं। अर्थात् तुम्हारा जीवन नष्ट हो जाता। निरर्थक बन जाता। जो महान् की उपासना छोड़कर स्वल्प की उसासना करता है, उसका एक प्रकार से जीवन नष्ट हुआ हीं समझना चाहिये।"

हाँ तो पाँच ऋषिकुमारों से पूछने के अनन्तर अब जो इन पाँचों को लेकर इनके संग अरुण पुत्र आरुणि उद्दालक आये थे उनसे भी राजा ने पूछा—"हे गौतमगोत्रीय उद्दालक! तुम भी बताओ, तुम किस आत्मा की उपासना करते हो?"

इस पर महर्षि आरुणि ने शिष्टता के साथ उत्तर दिया—मान्नीय पूज्य भगवन्! राजन्! मैं तो पृथ्वी की उपासना करता हूँ।"

राजा ने कहा—"यह प्रतिष्ठा संज्ञक आत्मा है।"

आरुणि ने पूछा—"क्या यह वैश्वानर नहीं है।"

राजा ने कहा—"है क्यों नहीं, किन्तु यह वैश्वानर का अंश है।"

आरुणि ने पूछा—"इसकी उपासना का कुछ फल नहीं क्या?"

राजा ने कहा—"फल न होता, तो आज आपकी इतनी प्रतिष्ठा न होती। आप बहुत-सी सन्तति के द्वारा, बहुत से पशुओं के कारण जगत् में परम प्रतिष्ठित बने हुए हो। जो खाते हो, वह पूर्णरीत्या पच जाता है, आप शरीर से नीरोग हो, प्रिय दर्शन करते हो। जो इस पृथ्वी रूप वैश्वानर आत्मा की उपासना करेगा, वह भी आपके समान धन, सम्पत्ति, प्रजा, पशु, प्रिय-दर्शन और अतुल वैभव के कारण प्रतिष्ठित हो जायगा, किन्तु यह पूर्ण वैश्वानर की उपासना नहीं है यह तो वैश्वानर आत्मा के चरण मात्र हैं। अच्छा हुआ आप इन पाँचों ऋषिकुमारों के साथ मेरे पास आ गये। यदि आप न आते, तो आपके चरण गिर जाते।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! चरण गिर जाते इसका तात्पर्य क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! चरणों के अधिष्ठातृदेव श्री विष्णु हैं। अर्थात् तुम यहाँ न आते तो पृथ्वी के धन वैभव में ही पड़े रह जाते। विष्णु–उपासना से वञ्चित हो जाते।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार राजा अश्वपति ने छैऊ ऋषिकुमारों की द्युलोक आदित्य आकाश, वायु, जल और पृथ्वी इन उपासनाओं को अंश उपासना बताया। अब वे जैसे वैश्वानर की समस्तोपासना का इन सभी ऋषिकुमारों को उपदेश करेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग को एकाग्रचित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

तब नृप बोले–बुडिल! करो तुम काहि उपासन।
'हौं तो जल की करौं' बुडिल यों कर्यो प्रकाशन॥
रयि संज्ञक यह आत्म होहि धनवान उपासक।
प्रिय दरशन जठराग्नि तीव्र तेजस्वी साधक॥
किन्तु आतमा वस्ति यह, यदि तुम नहिं आवत इतहिं।
वस्ति फटत तुमरी तुरत, वस्तिहीन होवैं उतहिं॥१॥

उद्दालक तैं भूप कहें—तुम कहौ सुशासन।
को उपास्य? मुनि कहें—भूमि की करूँ उपासन॥
जाहि प्रतिष्ठा कहें, प्रतिष्ठित होइ उपासक।
अन्न पचै धन तेज बढ़ै होवै भू शासक॥
किन्तु आतमके चरण यह, यदि इत आवत नहीं मुनि।
चरण शिथिल ह्वै जात तब, निर्भय हौं अब ज्ञान सुनि॥२॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में पञ्चदश, षोडस और सप्तदश खण्ड समाप्त।

समग्र वैश्वानर की उपासना के सम्बन्ध में राजर्षि अश्वपति का उपदेश

[१८१]

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाँ सोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्र-मभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥*

(छां० उ० ५ प्र० १८ खं० १ मं०)

छप्पय

वैश्वानर कूँ पृथक् मानि तुम अन्नहिँ खाओ ।
सबहिँ व्याप्त प्रादेशमात्र ब्रह्महिँ नहिँ ध्याओ ॥
सीमित सीमित फलहिँ असीमित निस्सीमहिँ फल ।
करै उपासन सर्व व्याप्त सबमें खावै मल ॥
दिवि सिर, सूरज चक्षु हैं, वायु प्राण ख हु बहुल है ।
वस्ति नीर भू चरन द्वय, वेदी वक्षःस्थलहु है ॥

---

* राजर्षि अश्वपति उन छँऊ ऋषिकुमारों से कह रहे हैं—"तुम सब वैश्वानर की उपासना करके अन्न भक्षण करते तो हो, आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर उपासना करते हो, किन्तु जो सबमें व्याप्त इस समग्र वैश्वानर आत्मा को प्रादेशमात्र मानकर उपासना करता है वह सम्पूर्ण लोकों में, सम्पूर्ण भूतों में, सम्पूर्ण आत्माओं में, अन्न का भक्षण करता है। अर्थात् सभी में अपने आपको ही भोगता हुआ अनुभव करता है।"

वे सर्वगत सर्वाधार, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी प्रभु ही समस्त प्राणियों की हृदयरूपी गुफा में बैठकर समस्त कार्य करा रहे हैं। वे ही समस्त प्राणियों के शरीरों में जठराग्नि रूप से—वैश्वानर बनकर—प्राणियों के खाये हुए, पीये हुए, चाटे हुए और चूसे हुए अन्नों को प्राण और अपान को सम करके पचाते रहते हैं। वास्तव में जो सबके सब अन्नों को सर्वत्र, सर्वकाल में पचाता है, वही सर्व व्यापक विराट् वैश्वानर है। जितने भी देवगण हैं सब उनके अंश हैं। अंशी वे ही विराट् भगवान हैं। जो अंश की उपासना करेगा, उसे उतने ही अंशों में सीमित फल मिलेगा। और जो समग्र अंशी की समग्रभाव से उपासना करेगा उसे समग्र फल की प्राप्ति होगी।

श्रीमद्भागवत में ऐसी अंशभूत सकाम उपासनाओं का वर्णन है। जैसे जो चाहता हो मुझे ब्रह्मतेज की प्राप्ति हो, तो उसे वृहस्पति जी कीउपासना करनी चाहिये। इन्द्रियों में यथेष्ट बल की कामना से इन्द्र की, सन्तान की कामना से प्रजापतियों की,लक्ष्मी की कामना से मायादेवी को, तेज की कामना से अग्नि की, धन की कामना से वसुओं की, वीर्य कामना से रुद्रों की, अन्न की कामना से आदित्यों की, राज्य कामना से विश्वेदेवों की, प्रजानुकूल बनाने को साध्यों की, दीर्घ आयु को कामना से अश्विनीकुमारों की, पुष्टि कामना से भूमि की, प्रतिष्ठा के लिये भू और द्यौ की, सौन्दर्य की कामना से गन्धर्वों की, पत्नी की कामना से उर्वशी की, आधिपत्य की कामना से ब्रह्माजी की, यश के लिये यज्ञपुरुष की, कोश की कामना से वरुण की, विद्या के लिये गिरिजेश शंकर की, पति-पत्नी में प्रेम की कामना से उमादेवी की, धर्म कामना से विष्णु की, वंशपरम्परा अक्षुण्ण बनी रहने की कामना से पितरों की, बाधाओं से बचने को यक्षों की, बलवान्

बनने को मरुदगणों की, राज्य कामना से मनुओं की, अभिचार के लिये निर्ऋति की, और भोग कामना से चन्द्रमा की उपासना करनी चाहिये।

यद्यपि ये समस्त देवगण उन विराट् प्रभु के वैश्वानर भगवान् के अंश हैं, किन्तु इन सबकी मर्यादा सीमित हैं। आप जिस कामना से इनकी उपासना करोगे आपकी वही कामना पूरी हो सकती है। वह भी तब जब आपकी उपासना विधिपूर्वक निर्विघ्न सम्पन्न हो। आप चाहते हों, कि एक ही देवता से पुत्र, धन, प्रतिष्ठा, अन्न, सुख, भुक्ति मुक्ति सब ले लें सो असम्भव है। क्योंकि इन देवों के अधिकार सीमित हैं। अपनी सीमा के ही भीतर और उपासक की कामना के अनुसार ही ये सब फल देंगे। किन्तु जो समस्त पुरुषों में उत्तम हैं जो समस्त पुरुषों से परे हैं, सब अंशों के अंशीमात्र है। जो परमपुरुष, परमात्मा, परब्रह्म, परात्पर प्रभु विराट् भगवान् वैश्वानर हैं उनकी उपासना चाहें सकाम करो, निष्काम करो अथवा मोक्ष की कामना से करो वे सबके सब फल देने में समर्थ हैं। अतः अंश की उपासना न करके अंशी की उपासना करनी चाहिये। क्योंकि अंश तो इस लोक के तथा स्वर्गलोक के भोगों को ही दे सकते हैं और अंशी जो चाहें भुक्ति-मुक्ति तथा भक्ति सब कुछ देने में समर्थ है। यही बात राजर्षि अश्वपति ने प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और उद्दालक इन ६ ऋषि कुमारों को बतायी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजर्षि अश्वपति ने छैऊ ऋषिकुमारों की उपासना के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर ली, तब उन्होंने सबको सम्बोधित करके कहा—"आप लोग इस वैश्वानर आत्मा को पृथक्-पृथक् मानकर अन्न भक्षण करते हैं। वास्तव में आपकी उपासना समग्र वैश्वानर उपासना न होकर

उस परमात्मा के एक-एक अंश की ही उपासना है। जो सम्पूर्ण वैश्वानर है जो विश्वब्रह्माण्ड में अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं उसकी उपासना नहीं करते। इसी कारण आपको भोगने को पृथ्वी के सीमित भोग ही प्राप्त होते हैं। जो कोई मुमुक्षु उपासक विगतमान—सीमा अवधि रहित प्रादेशमात्र वैश्वानर की उपासना करते हैं वे समस्त लोकों में, समस्त प्राणियों में और समस्त आत्माओं में अन्न भक्षण करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"अन्न भक्षण करते हैं इसका क्या अभिप्राय है ?"

सूतजी ने कहा—"यहाँ अन्न से अभिप्राय सभी प्राणियों के भोग्य पदार्थ से है। यथार्थ में सभी प्राणियों का भोग्य तो वह परब्रह्म ही है। जो समस्त प्राणियों में उस जीवों की समस्त गतियों के नेता को अथवा समस्त नरों में व्याप्त हो उस वैश्वानर को सबमें समान भाव से मानता है, वह सभी के मुख से स्वयं ही अन्न खाता है। सभी के द्वारा सभी भोगों का भोक्ता है। वह जो वैश्वानर के समग्र रूप का ज्ञाता है वह सर्वात्मभाव से—समष्टि रूप से—भोग भोगता है। अज्ञानियों की भाँति व्यष्टि रूप में ही अपने ही निमित्त अन्न नहीं खाता।"

शौनकजी ने पूछा—"उस वैश्वानर का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप कैसा है ?"

सूतजी ने कहा—"उन छैऊ ऋषिकुमारों की उपासना सुनकर राजर्षि अश्वपति बताते गये थे, कि यह पूर्ण वैश्वानर न होकर अमुक वैश्वानर का सिर है, चक्षु, प्राण, बहुल, वस्ति तथा चरणादि हैं। उसी की पूर्ति करके भगवती श्रुति वैश्वानर के सम्पूर्ण रूप का वर्णन करती हुई कहती है—"उस विराट् वैश्वानर आत्मा का सुतेजा नाम वाला द्युलोक तो मूर्धा-मस्तक है। उसका

विश्वरूप नामक आदित्य चक्षु हैं प्रत्यग्वर्त्मा नामक वायु उसका प्राण है आकाश जिसे बहुल भी कहते हैं वह सन्देह-देह का मध्य भाग है। जल जिसे रयि भी कहते हैं, वह उस वैश्वानर का वस्ति स्थान (जहाँ मूत्र एकत्रित होता है वह) है। पृथ्वी जिसको प्रतिष्ठा भी कहते हैं वह उसके चरण हैं। उसके शरीर का वक्षः-स्थल ही मानो यज्ञ की वेदी है। यज्ञ की वेदी के चारों ओर जो कुशायें बिछायी जाती हैं वे दर्भ मानों उसके लोम-रोयें-हैं। तीन प्रकार की अग्नियों में से मानों हृदय ही गार्हपत्याग्नि है। उसका मन ही अन्वाहार्यपचन-दूसरी दक्षिणाग्नि-है और मुख ही मानों उसकी तीसरी आहवनीयाग्नि है।

इसलिये वाह्य हवन की अपेक्षा वैश्वानर में ही आत्मा में हवन करना चाहिये। अपने सम्मुख जो भी अन्न आवै उस में से पंचग्रास लेकर पंच प्राणों को प्रथम आहुति देनी चाहिये। अन्न के भोक्ता को चाहिये कि "प्रणाय स्वाहा" ऐसा कहकर प्रथम आहुति मुख्य प्राण को दे। ऐसा करने से समष्टि में व्याप्त मुख्य प्राण तृप्त होते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"प्राण के तृप्त होने पर भोक्ता की तृप्ति कैसे होगी?"

सूतजी ने कहा—"क्यों, भगवन्! इस जगत् में प्राण ही तो मुख्य हैं। प्राणों के बिना सभी प्राणी-निष्प्राण-शव-हो जाते हैं। प्राणों की तृप्ति से नेत्रेन्द्रियों के अभिमानी देव तृप्त होते हैं। नेत्र के अधिष्ठातृ देव सूर्य हैं, नेत्रों के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त हो जाते हैं। सूर्य द्युलोक में रहते हैं सूर्य में और द्युलोक में स्व स्वा-मिभाव होता है अतः सूर्य के तृप्त होने पर द्युलोकाभिमानी देव 'स्वर्गलोक' तृप्त होते हैं। द्युलोक के तृप्त होने पर जिस सम्बन्ध से द्युलोकाभिमानी और सूर्यलोकाभिमानी देवता से अधिष्ठित जो भी

वस्तुजात देव हैं वे तृप्त होते हैं उनके तृप्त होने पर प्राणों में जो "प्राणाय स्वाहा" कहकर हवन करने वाला जो उपासक है, वह पुत्र पौत्रादि प्रजाओं द्वारा, उपयोगी पशुओं द्वारा, अन्नाद्य द्वारा, तेज द्वारा तथा ब्रह्मवर्चस—ब्रह्मतेज द्वारा स्वयं भी तृप्त होता है। अतः खाने के पूर्व अन्न को "प्राणाय स्वाहा" कहकर मुख में प्रथम ग्रास रूपी आहुति देनी चाहिये।"

अब दूसरी आहुति "व्यानाय स्वाहा" इस मन्त्र से देनी चाहिये। इस आयुति से व्यान तृप्त होता है। व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होती हैं, श्रोत्रियेन्द्रिय के देवों की तृप्ति होने से चन्द्रदेव तृप्त होते हैं, चन्द्रमा के तृप्त होने पर श्रोत्रेन्द्रिय के अधिष्ठातृ देव दिशायें तृप्त होती हैं। दिशाभिमानी देवता की तृप्ति से जिन दिशाभिमानी देवताओं से और चन्द्राभिमानी से अधिष्ठत जो भी कुछ वस्तु जात है उसके अभिमानी देव तृप्त होते हैं। इन सब के अभिमानी देवताओं की तृप्ति के पश्चात् स्वयं जिसने प्राण अग्नि में हवन किया है ऐसा साधक—हवनकर्ता यजमान—प्रजाओं के द्वारा अन्नाद्य—खाद्य पदार्थों द्वारा—उपयोगी पशुओं द्वारा, तेज द्वारा तथा ब्रह्मवर्चस ब्रह्म तेज द्वारा—तृप्ति को प्राप्त करता है। प्राण हृदय में रहता है और व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। जीवात्मा हृदय प्रदेश में रहता है और उसका प्रकाश—तेज—सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। जैसे दीपक घर के एक देश में बैठा रहता है, किन्तु उसका प्रकाश पूरे घर के कोने में व्याप्त हो जाता है। हृदय प्रदेश से मुख्य-मुख्य सौ नड़ियाँ निकल कर सम्पूर्ण शरीर में फैली रहती हैं। इन सौ में से प्रत्येक की सौ-सौ शाखा नाड़ियाँ निकलती हैं इस प्रकार दश सहस्र नाड़ियाँ हैं। इन दश सहस्र नाड़ियों में से प्रत्येक में से बहत्तर-बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ अत्यन्त सूक्ष्म निकलती हैं। इस प्रकार

शरीर की छोटी बड़ी सभी नाड़ियाँ बहत्तर करोड़ हैं। व्यान रूप प्राण इन बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ में व्याप्त रहता है। इसलिये यह सर्व व्यापक है। इसकी तृप्ति से दशों दिशायें तृप्त हो जाती हैं।"

अब तीसरी आहुति 'अपनाय स्वाहा' इस मन्त्र से देनी चाहिये। अपमान के अधिष्ठातृ देव के तृप्त होने पर वाक् इन्द्रिय के अधिष्ठातृ देव तृप्त होते हैं। वाक् के तृप्त होने पर अग्निदेव तृप्त होते हैं, अग्निदेव के तृप्त होने पर पृथ्वी के अधिष्ठातृदेव तृप्त होते हैं, पृथ्वी के तृप्त होने पर जिस स्वामिभाव से पृथ्वी और अग्नि अधिष्ठित हैं। वह वस्तु जात उसके अभिमानी देव तृप्त होते हैं। उनकी तृप्ति के पश्चात् यज्ञकर्ता भोक्ता यजमान प्रजाओं के द्वारा, पशुओं के द्वारा अन्नाद्य–विविध भाँति के खाद्य पदार्थों–द्वारा, तेज द्वारा तथा ब्रह्मवर्चस-ब्रह्मतेज–द्वारा स्वयं तृप्त होता है। यह अपान वायु शरीर में पायु–मल द्वार–तथा उपस्थ–मूत्र द्वार–में रहता है। यही मल, मूत्र तथा अपानवायु को बाहर निकलता है यही एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। स्त्रियों के गर्भस्थ शिशु को भी यही बाहर निकलता है। गुदा मंडलवर्ती यह अपान जीवन.. का आधार है। इसकी तृप्ति होने पर अग्नि पृथ्वी सभी तृप्त होते हैं

अब चौथी आहुति "समानाय स्वाहा" कहकर जठराग्नि में देनी चाहिये। इससे समान अधिष्ठातृ देव तृप्त होते हैं, उनके तृप्त होने पर मन के अधिष्ठातृदेव तृप्त होते हैं। मन के तृप्त होने पर पर्जन्य देव तृप्त होते हैं। पर्जन्य देव के तृप्त होने पर विद्युत् अधिष्ठातृदेव तृप्त होते हैं। विद्युत् देव की तृप्ति होने से जिस स्वामिभाव से विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित हैं, वे देव तृप्त होते हैं, उनके तृप्त होने के अनन्तर यज्ञकर्ता साधक यजमान पुत्र पौत्रादि

सन्तानों द्वारा, उपयोगी पशुओं द्वारा अन्नाद्य-भोग्य पदार्थों-द्वारा तेज और ब्रह्मवर्चस द्वारा स्वयं भी होता है।

समान वायु शरीर के मध्य भाग में अर्थात् नाभि प्रदेश में रहता है। प्राणवायु शरीर को ऊपर की ओर खींचे रहता है, उद्गार-डकार-यह प्राण का धर्म है भीतर की वायु को ऊपर मुख से निकालता है। अपानवायु शरीर की स्थिति नीचे की ओर सम्हाले रहता है। यह अपानवायु को नीचे की ओर गुदा द्वारा निकालता है। समान वायु दोनों का सन्तुलन रखता है। इसी से शरीर स्थिंत रहता है। समान वायु यदि संतुलन न रखे तो शरीर स्थिर नहीं रह सकता जीवन लीला समाप्त हो जाती है।

अब पाँचवीं आहुति 'उदानाय स्वाहा' इस मन्त्र से देनी चाहिये। इससे उदान देव तृप्त होते हैं। उदान देव के तृप्त होने पर त्वचा के अधिष्ठातृदेव तृप्त होते हैं। उनके तृप्त होने पर वायुदेव तृप्त होते हैं, वायु के तृप्त होने पर आकाश देव तृप्त होते हैं, फिर जिस वस्तु जात से वायु और आकाश का स्वामि-भाव है वह उस वस्तु जात के अधिष्ठाता तृप्त होते हैं, उनकी तृप्ति के अनन्तर यज्ञकर्ता, साधक, यजमान, सन्तानों द्वारा, पशुओं द्वारा, भोग्य पदार्थों द्वारा तथा तेज और ब्रह्मवर्चस द्वारा स्वयं तृप्त होता है।

शरीर में उदान वायु कंठ में रहती है। जैसे हृदय में प्राण, गुदा देश में अपान, नाभि में समान कंठ में उदान और समस्त शरीर में व्यान नामक वायु रहता है। कुछ का मत है कण्ठ उसका मुख्य स्थन भले ही हो, किन्तु हाथ पैर तथा शरीर की समस्त सन्धियों में जैसे घुटने, टखने, कोहनी कलायी, कंठादि जहाँ से भी शरीर मुड़ जाता हो, वहाँ उदान वायु रहती है। उदान के तृप्त होने पर आकाश और उसमें बहने वाली वायु भी

तृप्त होती है। उसकी तृप्ति से अन्न भक्षण करने वाला भी तृप्त हो जाता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जानकर अन्न भक्षण करो, अथवा बिना जाने, मन्त्र पढ़कर अन्न भक्षण करो अथवा बिना मन्त्र के। अन्न जब जठराग्नि में जायगा, तो अपने आप ही समस्त देवता तृप्त हो जायँगे। अतः मन्त्रादि पढ़कर प्राण की आहुति देकर अन्न खाने की क्या आवश्यकता है।"

सूतजी ने कहा - "भगवन् ! महिमा जानकर उपयोग करने में और विना महिमा जाने उपयोग करने में तो अन्तर होता ही है। अग्नि में विधिवत् देवताओं का नाम लेकर उनके उद्देश्य से सविधि हवन करने का परिणाम और होता है तथा बिना विधि जाने बुझी हुई अग्नि में वैसे ही साकल्य फेंक देने का परिणाम दूसरा ही होता है। अतः जो वैश्वानर विद्या को विना जाने वैसे ही अन्न का भक्षण कर जाता है, विधिवत् हवन नहीं करता। उसका वह हवन इसी प्रकार है जिस प्रकार जलती हुई अग्नि को हटाकर भस्म में ही हवन किया जाय। भस्म में हवन करना जैसे व्यर्थ है, वैसे ही अविद्वान् का अन्न भक्षण रूप हवन व्यर्थ है।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा जो इस विद्या को भली-भाँति जानकर इस पंच आहुति प्रधान हवन को करता है, उसका फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह तो इन पंच आहुतियों के प्रसंग में ही बताया जा चुका है, कि प्राण को आहुति देने पर कौन-कौन तृप्त होते हैं तथा व्यान, अपान, समान और उदान में आहुति देने पर कौन-कौन देवता तृप्त होते हैं। इसी प्रकार जो इस वैश्वानर आत्मा की विधिवत् जानकारी प्राप्त करके उचित विधि से इन पंचग्रास रूप आहुति के द्वारा अग्निहोत्र करता है,

उसके उस हवन से सम्पूर्ण लोक, समस्त भूत तथा निखिल आत्मायें तृप्त होती हैं। सभी भूतों में उसका हवन हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ये पंचग्रास रूपा आहुतियाँ कैसे देनी चाहिये, इसे विधिवत् बताइये।"

सूतजी ने कहा—"यह प्रसंग भिन्न-भिन्न उपनिषदों में, भिन्न-भिन्न पुराणों में, भिन्न-भिन्न स्मृतियों में वृहत् रूप से वर्णित है। यहाँ मैं संक्षेप में सबका सार लेकर बताता हूँ।

जब भगवत् प्रसाद पाना हो, तब पवित्र होकर भोजनालय में जाय। भोजन के आसन पर बैठने के पूर्व दोनों हाथों को, दोनों पैरों को विधिवत् धोकर कुल्ला करके तब पवित्रतापूर्वक गीले पैरों से भोजनालय में जाय। वहाँ पीढ़ा पर या भूमि पर ही कुशा का या वस्त्र का आसन बिछाकर बैठ जाय। सिले हुए वस्त्र न पहिने ऊनी रेशमी या सूती ही अधोवस्त्र, ऊर्ध्ववस्त्र पहिनकर एक उपवस्त्र अँगोछा कंधे पर डालकर पूर्व, पश्चिम अथवा उत्तर जिस दिशा में जहाँ भी सुविधा हो उसी ओर मुख करके बैठ जाय। इसके अनन्तर शुद्ध लिपे स्थान में एक वितस्ति लम्बा-चौड़ा चतुष्कोण मंडल ब्राह्मण तर्जनी उँगली से बनावे। क्षत्रिय त्रिकोण मण्डल, वैश्य गोलाकार मण्डल और शूद्र अर्धचन्द्राकार मण्डल बनावे। उस मण्डल पर भोजन के जैसे भी पात्र हों, उन्हें रखे।"

शौनकजी ने पूछा—"मण्डल किस वस्तु से बनावें?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! तर्जनी उँगली से जल से मण्डल बनावे। क्योंकि भोजन के समय हाथ, पैर, मुख, भोजन पात्र और मण्डल ये पाँचों वस्तुएँ आर्द्र—गीली—होनी चाहिये।

भोजन जिस किसी के हाथ का बना, जहाँ तहाँ नहीं करना चाहिये। गृहस्थी हो तो अपनी पत्नी के हाथ का बना, या स्वयं का

ही बना हो। अथवा पाचक के हाथ का बना हो या अपने शिष्य भक्त, अनुरक्त परिचित विशुद्ध व्यक्ति के हाथ का बना हो। अन्न पात्र को जहाँ तक हो ऊँचा रखे। अपनी दाहिनी ओर जल से भरा पात्र उपपात्र (ग्लास) रखे। फिर जल पात्र से जल लेकर भगवान् के नामों से या गायत्री मन्त्र से प्रोक्षण करे। फिर भगवान् का नाम लेकर अभिषेचन करे। फिर भगवान् का ध्यान करते हुए, मानसिक पूजन करे। फिर मन्त्र पढ़कर आचमन करे। अब पंच-ग्रास रूप पंचआहुतियों को मुख द्वारा वैश्वानर को जठराग्नि में हवन करे। जो भी हविष्य अन्न हो उसे अँगूठा, तर्जनी और मध्यमा इन तीन ही उगलियों से ग्रास उठाकर "प्राणाय स्वाहा" कहकर मुख में हवन करे। गीता के अनुसार चाहे तो पहिले प्रणव को भी लगा लेवे। विष्णु पुराण में आदि में प्रणव अन्त में स्वाहा और प्राण के साथ चतुर्थ्यन्त विभक्ति ऐसा बताया है।

दूसरा ग्रास कन्नी–सबसे छोटी–उँगली तथा कन्नी के पास अनामिका और अँगूठा इन तीन ही उँगलियों से उठाकर "व्यानाय स्वाहा" कहकर मुख में हवन करे।

तीसरा ग्रास अनामिका मध्यमा और अँगूठा इन तीनों उँगलियों से उठाकर "अपानाय स्वाहा" कहकर मुख में आहुति दे।

चौथा ग्रास पाँचों उँगलियों से उठाकर "समानाय स्वाहा" इस मन्त्र से मुख में चौथी आहुति दे।

पाँचवें ग्रास को अँगूठा से, उसके पास की तर्जनी से तथा सबसे छोटी कन्नी उँगली इन तीनों से उठाकर "उदानाय स्वाहा" इस मन्त्र से मुख में आहुति दे।

इस प्रकार पाँचों आहुतियाँ देकर आचमन करके फिर यह भावना करता हुआ कि अन्न साक्षात् ब्रह्मा का स्वरूप है, रस साक्षात् विष्णु का स्वरूप है और खाने वाले साक्षात् महेश्वर हैं।

वैसे अन्न के खाने में दोष है, किन्तु जो इस भावना से अन्न को भोजन करता है, उसे अन्न सम्बन्धी दोष नहीं लगता।"

शौनकजी ने पूछा—"पंच प्राणों की आहुति देने से समस्त लोग, सम्पूर्ण भूत तथा सभी आत्मायें तृप्त कैसे हो जाती हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! एक सरपत है सींक है उसके अग्रभाग को अग्नि में प्रवेश कर दो, तो वह सबकी सब तत्काल भस्म हो जायगी। इसी प्रकार जो इस वैश्वानर विद्या को जानकर प्राणों में आहुति देता है, उसके समस्त पाप तुरन्त ही भस्म हो जाते हैं। जिसने वैश्वानर दर्शन को भली-भाँति समझ लिया है और उसके अनुसार आचरण करता है, वह पवित्र अन्न मुख में आहुति न देकर अपने उच्छिष्ट अन्न को चांडाल को दे देता है, तो उसका वह अन्न वैश्वानर विराट् भगवान् को ही प्राप्त होता है, क्योंकि उसकी तो सब में समबुद्धि हो जाती है। ऐसा ज्ञानी पुरुष भोजन नहीं करता, वह तो अपने अग्निहोत्र के द्वारा प्राणिमात्र का हित करता रहता है।"

जैसे भूख से पीड़ित अबोध बालक सब भाँति से भूख से निवृत्त होने तथा भोजन से तृप्त होने के लिये अपनी जन्मदातृ जननी की ही उपासना करते हैं, उसी की ओर टकटकी लगाये देखते रहते हैं, उसी प्रकार समस्त प्राणी, सम्पूर्ण भूत ऐसे ज्ञानी के भोजन रूप अग्निहोत्र की उपासना करते हैं। उसी की ओर टकटकी लगाये देखा करते हैं।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! हम जहाँ भी देखते हैं, उपनिषदों में, पुराणों में तथा अन्य धर्म ग्रन्थों में प्राणों की अत्यधिक महिमा गायी गयी है। उपनिषद् में तो प्राणों की उपासना को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। यह क्या बात है ?"

हंसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! राजा के पश्चात् युवराज

की ही महिमा गायी जाती है। इस शरीर में कर्णों में दिग् देवता, सम्पूर्ण शरीर में वायु देवता, आँखों में सूर्य देवता, जिह्वा में वरुण देवता, नाक में अश्विनी कुमार देवता, वाणी में अग्नि, बाहुओं में इन्द्र, पैरों में उपेन्द्र, गुदा में मृत्यु, चित्त में चन्द्र, मन में रुद्र, बुद्धि में ब्रह्मा और क्षेत्रज्ञ तथा ईश्वर ये १४ देव निवास करते हैं। इन सबमें प्राणों की ही मुख्यता है। इस सम्बन्ध की स्कन्ध पुराण में एक कथा है—

भगवान् नारायण देव ने अपनी नाभि कमल से ब्रह्माजी को उत्पन्न किया तथा अन्यान्य देवताओं की भी उत्पत्ति की। सबको उत्पन्न करके भगवान् ने सबसे कहा—"देखो, भाई! बिना स्वामी के अध्यक्ष के कोई कार्य नहीं होता। अतः मैं इन कमलयोनि ब्रह्माजी को आप सबका प्रभु, पति, सम्राट् बनाये देता हूँ"

सबने कहा—"हमें ब्रह्माजी का आधिपत्य सहर्ष स्वीकार है, किन्तु इनका किसी को युवराज भी तो बना दें।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"भाई, युवराज का चुनाव तुम सब मिलकर आपस में ही कर लेना। जो तुम में सबसे बड़ा हो उसे ही युवराज बना लेना।"

भगवान् तो ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गये। अब युवराज के चुनाव का अवसर आया। ब्रह्माजी ने कहा—"भाई, तुम में जो शील में, शौर्य में, उदारता में तथा समस्त सद्गुणों में श्रेष्ठ हो, वही मेरा युवराज बन जाओ।"

यह सुनकर सभी अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा करने लगे। किसी ने कहा सूर्य को युवराज बनाओ। किसी ने चन्द्र का, किसी ने इन्द्र का, किसी ने रुद्र का नाम लिया। कोई अग्नि के पक्ष में था, कोई कामदेव के पक्ष में सारांश सबके सब यौवराज पद के प्रत्याशी बन गये।

ब्रह्माजी ने कहा—"भाई मतदान हो जाय।" किन्तु मतदान तो तब हो जब कुछ मतदाता हों, कुछ प्रत्याशी हों, जब सबके सब प्रत्याशी हो तो मतदान से क्या लाभ।"

तब सबने कहा—"इस अभियोग को भगवान् नारायण को ही सौंप दो। वे जिसे युवराज बना दें, हम सब उसे ही स्वीकार कर लेंगे। इस निर्णय को सबने मान लिया। सब मिलकर भगवान् नारायण की सेवा में समुपस्थित हुए। उनके सामने अपना अभियोग प्रस्तुत किया और निवेदन किया—"आप ही जिसे चाहें युवराज बना दें।"

भगवान् ने कहा—"भाई, मैं किसी एक के पक्ष में नहीं हूँ। आप लोग स्वयं ही निर्णय कर लें। जिसके न रहने पर यह शरीर मृत हो जाय और जिसके आने पर फिर चैतन्य होकर खड़ा हो जाय, वही आप सबमें श्रेष्ठ है, उसे ही युवराज पद पर प्रतिष्ठित कर दो।"

यह बात सबने स्वीकार कर ली और सभी पारी-पारी से शरीर को छोड़कर जाने लगे। क्रमशः कानों में से दिशा, नेत्रों से सूर्य, रसना में से वरुण, नाक में से अश्विनीकुमार, हाथों में से इन्द्र, पैरों में से उपेन्द्र सभी निकल-निकल कर गये, किन्तु इनके बिना भी शरीर जीवित रहा। जब प्राण निकलकर गये, तो सभी अपना स्थान छोड़कर चले गये। शरीर प्राणहीन शव हो गया। फिर कहा—अच्छा देखें किसके प्रवेश करने से यह शरीर चैतन्य होकर उठ पड़ता है। फिर क्रमशः इन्द्र ने हाथों में प्रवेश किया, किन्तु शरीर नहीं उठा, इसी प्रकार, सूर्य, वरुण अश्विनी कुमार, अग्नि, मृत्यु, चन्द्र सभी ने प्रवेश किया शरीर नहीं उठा। ज्योंही प्राण ने प्रवेश किया, शरीर चैतन्य होकर उठ पड़ा। तभी सबने सर्व-सम्मति से प्राण को युवराज पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। इसी

लिये प्राण को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसकी इतनी प्रशंसा वेदशास्त्रों में गायी गयी है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! वेदशास्त्रों में महिमा भले ही गायी गयी हो, किन्तु जितनी प्रसिद्धि देवताओं ऋषियों तथा राजाओं की है, उतनी प्रसिद्धि प्राणों की नहीं है, यह क्या बात है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! प्रसिद्धि होना एक बात है, प्रतिष्ठित होना दूसरी बात है धन, सम्पत्ति, यश प्रसिद्धि ये सब वस्तुएँ तो भाग्य से प्राप्त होती हैं। प्राण को प्रसिद्ध न होने का शाप है।"

शौनकजी ने कहा—"प्राण को शाप किसने दिया ?"

सूतजी ने कहा—"इस सम्बन्ध में भी एक पौराणिकी कथा है। जब प्राण को युवराज पद प्राप्त हुआ, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसी उपलक्ष्य में उन्होंने भगवान् हरि का अश्वमेध यज्ञ द्वारा यजन करना चाहा। निश्चय हुआ गंगाजी के किनारे एक विशाल चौरस प्रदेश में यज्ञ किया जाय। यज्ञ करने के पूर्व यज्ञीय भूमि को सुवर्ण के हल से जोतकर सम किया जाता है। अतः प्राणदेव सुवर्ण के हल से भूमि को जोत रहे थे। बीच में उन्हें एक वल्मीक का—दीमकों का—एक टीला-सा मिला। उसे भी सम करने के अभिप्राय से वे जोतने लगे। उसके भीतर कण्व महर्षि बैठे तप कर रहे थे। उनके शरीर में हल की फार लग गयी। तब वे महर्षि क्रोध में लाल-पीली आँखें करके निकले। निकलते ही उन्होंने प्राण को शाप दिया—"आज से तुम्हारी तीनों भुवनों में ख्याति न होगी। हाँ भूलोक में तुम्हें देवताओं का ईशत्व प्राप्त होगा। और तुम्हारे अवतार ४९ मरुत् तीनों लोकों में प्रख्यात होंगे।"

यह सुनकर प्राणदेव को बड़ा क्रोध आया और वे बोले—"देखोजी, कण्व ! मैं तो यज्ञकार्य के लिये भूमि सम कर रहा था मेरा कोई दोष नहीं था। तुमने मुझ निर्दोष को शाप दे दिया, इसलिये मैं भी तुम्हें शाप देता हूँ, तुम गुरु द्रोही हो जाओगे।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! उसी कण्व मुनि के शाप के कारण प्राणदेव की संसार में उतनी ख्याति नहीं हुई। प्राण के शाप से वे कण्वमुनि (याज्ञवल्क्य) अपने गुरु वैशम्पायन से द्रोह करके उन्हें छोड़कर सूर्य के शिष्य हो गये थे।"

सूतजी कह रहे हैं, मुनियो ! इस प्रकार वे प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल और उद्दालक नाम वाले ६ ऋषि कुमार राजर्षि अश्वपति से वैश्वानर विद्या सीखकर राजा से अनुमति माँगकर अपने-अपने स्थानों को चले गये। यह मैंने वैश्वानर की समग्र उपासना कही अब आगे जैसे आरुणि और उनके पुत्र का सम्वाद है, उस सृष्टि ज्ञान सम्बन्धी उपदेश का वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सब इसे दत्तचित्त से श्रवण करेंगे।

छप्पय

(१)

लोमदर्भ हिय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि मनहु है।
मुख है आहवनीय अन्न ही हव्य वस्तु है॥
प्राण, व्यान, आपान, समान, उदान पुकारे।
चतुर्थ्यान्त इनि करै अन्त स्वाहा उच्चारे॥
होहि तृप्त सबही जगत, भस्म माहिं अज्ञहि हवन।
विज्ञ हवनतैं लोक सब, भूत-आत्म होवै हवन॥

(२)

प्राण तृप्त तैं नेत्र नेत्रतैं रवि द्यूलोक पुनि ।
पुनि भोक्ता पशु प्रजा तेज अन्नाद्य ब्रह्ममुनि ॥
व्यान तृप्त तैं श्रोत्र श्रोत्र तैं चन्द्र दिशा पुनि ।
दिग् शशि स्वामी भाव होहिँ भोक्ताहू पुनि मुनि ॥
तृप्त अपान हु वाक्तैं, अग्नि अग्नि तैं भूमि है ।
भूमि अनलकी तृप्तितैं, भोक्तादिक अरु ब्रह्म है ॥

(३)

तृप्त समानहु तृप्त होहि मन पर्जन्यहु पुनि ।
विद्युत् होवै तृप्त अधिष्ठित तृप्त होहि मुनि ॥
भोक्ता पशु अन्नाद्य ब्रह्मवर्चस तृप्तहु सो ।
तृप्त उदानहु त्वचा वायुतैं नभ तृप्तहु सो ॥
भोक्ता पशु अन्नाद्य अरु, ब्रह्मतेज तैं तृप्त हौं ।
क्षय अघ हों विदानके, शिशु माँवत सब भूत त्यौं ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के पंचम अध्याय में अठारहवाँ, उन्नीसवाँ, बीसवाँ, इक्कीसवाँ, बाईसवाँ, तेईसवाँ तथा चौबीसवाँ खण्ड समाप्त

पंचम अध्याय समाप्त ।

पिता पुत्र का प्रश्नोत्तर

[१८२]

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस त ँ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम् । न वै सौम्यास्मत् कुलीनोऽननूच्य ब्रह्म-बन्धुरिव भवतीति ॥*

(छां उ० ६ अ० १ ख० १ मं०)

छप्पय

आरुणि निज सुत श्वैतकेतु तैं कहैं—सौम ! सुनि ।
मम कुल सबई विज्ञ ब्रह्मचारी तू हू बनि ॥
गुरुकुल द्वादश बरस बास करि बनि अभिमानी ।
श्वैतकेतु घर आइ बन्यो अति तंडित मानी ॥
पितु पूछ्यो—आदेश तू, जानत वह जिहि हेतु तैं ।
होइ अश्रुत श्रुत अमत मत, अविज्ञात जिहि ज्ञात तैं ॥

विद्या से विनय, सरलता, निरंभिमानता तथा महत्ता आदि

---

* अरुण के पुत्र आरुणि उद्दालक थे । उनके सुप्रसिद्ध पुत्र श्वेतकेतु हुए । एक दिन पिता आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—"देखो, बेटा, श्वेतकेतो ! तुम ब्रह्मचारी बनकर गुरुकुल में निवास करो । क्योंकि भैया ! हमारे इस कुल में ऐसे कोई पुरुष नहीं हुए, जिन्होंने वेदाध्ययन न किया हो, जिन्होंने ब्रह्मबन्धुपने का—नाम मात्र का ब्राह्मण बनकर—जीवन बिताया हो ।"

गुण स्वयं आ जाते हैं। अभिमान अविनीतता ये मूर्खता के लक्षण हैं। जिस घड़े में न्यून जल रहेगा, वही अधिक छलकेगा, वही अधिक उछल कूद करेगा, जो घड़ा ऊपर तक परिपूर्ण भरा रहेगा, वह शांत गंभीर और छलकने से रहित होगा। लोग अविनीत शिष्टाचार से रहित कब होते हैं, जब उन्हें अपने पांडित्य का, मिथ्या गुणों का अभिमान हो जाता है। गुणी तो हैं नहीं, किन्तु अपने को गुणी माने बैठे हैं। संगीत के सम्बन्ध में इधर-उधर की दो चार बातें सुनकर रटकर अपने को संगीत विशारद मानने लगे हैं। पांडित्य तो नहीं, किन्तु अपने को पंडित मानने लगे हैं। ऐसे अधूरे लोग ही मिथ्याभिमान किया करते हैं। उनके अभिमान को देखकर ही विज्ञ पुरुष समझ लेते हैं, कि ये कितने पानी में हैं ऐसे पुरुषों को अल्पज्ञ कहते हैं। इनका सुधार कब हो सकता है, जब ये लोग विद्वत् समाज में जायँ। विद्वानों की सत्संगति करने से, उनके समीप रहने से, उनका उपदेश सुनने से शनैः-शनैः उनका अभिमान गलने लगता है, फिर वे अपने को पंडित न मानकर मूर्ख-ही मानने लगते हैं। शास्त्र अनन्त हैं विद्या भी बहुत-सी हैं, ज्ञान का पार नहीं अल्पायु वाला क्षुद्र जीव समस्त शास्त्रों का अध्ययन कैसे कर सकता है? समस्त विद्याओं को कैसे सीख सकता है? समस्त ज्ञान को कैसे धारण कर सकता है? अनन्त शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी जिसे यह अनुभव हो जाय, कि ज्ञानरूप समुद्र अगम्य अथाह है, मैं तो उसके एक बिन्दु के सदृश भी नहीं जानता। ऐसा जिसे अनुभव होगा, वह फिर अभिमान किस कारण से करेगा। वह तो परम विनीत, विनयावनत, सरल और निरभिमानी हो जायगा। जहाँ ये गुण आये तो समझ लो, विद्या ने उस पर कृपा कर दी। ऐसा अध्ययनशील निरभिमानी विनीत महामना व्यक्ति ही विद्वान् माना

जागया। विद्वत्ता केवल पढ़ने से ही नहीं आती है, गुरुजनों की सेवा सुश्रूषा तथा सत्संगति से चिरकाल में विद्या आती है। कुल परम्परा कुलीनता का भी शिक्षा पर प्रभाव पड़ता है यदि रज वीर्य में संकरता न आयी हो, तो प्रायः विद्वानों के पुत्र भी विद्वान् ही होते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जन्म से तो शिशु माता-पिता के वर्ण वाला होता है, संस्कार होने से द्विज होता है, वेदों के पढ़ने से विद्वान होता है और उन्हें आचरण में लाने से श्रोत्रिय होता है। जो वेदों को उनके ६ अंगों के साथ विधिवत् पढ़ ले ऐसे विनीत विचक्षण विद्वान् को अनूचान कहते हैं। विद्वान् ब्राह्मण पिता की यह हार्दिक इच्छा रहती है, कि मेरा पुत्र मुझ से बढ़कर विद्वान् हो। पिता की अन्तरिक भावना यह रहती है, कि मुझ में जो दुर्गुण हैं, वे मेरे पुत्र में तनिक भी न आने पावें और जो मुझ में अणुमात्र भी गुण हैं, वे मेरे पुत्र में पर्वत के समान वास करें। पिता पुत्र का सम्बन्ध ही ऐसा है।"

पिछले प्रकरण में यह बात बतायी कि एक विद्वान् के भोजन करने पर सम्पूर्ण संसार की तृप्ति हो जाती है। उसी बात को अनेक दृष्टान्तों से सिद्ध करने को आरुणि और उनके पुत्र श्वेतकेतु के सम्वाद को आरम्भ करते हैं।

प्राचीन प्रथा ऐसी थी कि द्विजातिगण अपने बच्चों को घर पर नहीं रखते थे। जहाँ वह तनिक सयाना हुआ कि उसे आचार्य की सन्निधि में—गुरुकुल में—भेज देते थे। वहाँ गुरु उसका उपनयन संस्कार कराकर गायत्री मन्त्र की दीक्षा और यज्ञोपवीत देकर वेदारम्भ करा देते थे। कोई १२ वर्ष रहकर कोई २४, ३६ अथवा ४८ वर्ष रहकर गुरुकुल से घर लौटते थे। कोई-कोई जीवन पर्यन्त लौटते ही नहीं थे। नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत

को धारण करके-ऊर्ध्वरेता होकर-सम्पूर्ण जीवन या तो गुरुकुल में बिता देते थे अथवा संन्यास लेकर भ्रमण करते हुए ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते थे।

ब्राह्मण के बालक का ५ वर्ष में अथवा ८ वर्ष में, क्षत्रिय का ११ वर्ष में और वैश्य का १२ वर्ष में उपनयन संस्कार करा ही देना चाहिये। ब्राह्मण का अधिक से अधिक १६ वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष और वैश्य का २४ वर्ष की आयु पर्यन्त उपनयन नहीं होता, तो फिर वे व्रात्य पतित समझे जाते हैं। फिर उनका संस्कार प्रायश्चित्त करा के ही किया जा सकता है। ब्रह्मवर्चस–ब्रह्मतेज–की कामना वाले ब्राह्मण को अपने पुत्र का ५ वर्ष की अवस्था में ही उपनयन करा देना चाहिये।

गौतम गौत्रीय एक अरुण ऋषि थे। उनके पुत्र आरुणि थे जो आयोद् धौम्य ऋषि के समीप पढ़ते थे। जो खेत की मेड़ बनकर गुरु के पुकारने पर उसे तोड़ कर चले आने से 'उद्दालक' नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके कई पुत्रों में से एक श्वेतकेतु नाम के पुत्र हुए। वे प्रतीत होता है, वेदाध्ययन में मन नहीं लगाते थे। ब्राह्मण के बालक का पाँच वर्ष की अवस्था में ही उपनयन संस्कार हो जाना चाहिये, किन्तु उनकी १२ वर्ष की अवस्था हो गयी, न तो उन्होंने उपनयन ही कराया और न गुरुकुल में वास करने ही गये।

एक दिन उनके पिता आरुणि उद्दालकजी ने उन्हें प्रेमपूर्वक अपने पास बुलाया और स्नेह से उनके सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"बेटा, श्वेतकेतु! मैं तुम से एक बात कहना चाहता हूँ।"

श्वेतकेतु ने कहा—"कहिये पिताजी! क्या आज्ञा है।"

पिता ने कहा—"देखो बेटा, हम ऋषि हैं हमारे कुल में सदा से स्वाध्याय प्रवचन की पराम्परा रही है। हमारे कुल में आज तक जो भी उत्पन्न हुआ है वह स्वाध्याय प्रवचन से वंचित नहीं

रहा। जो बालक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भी वेदाध्ययन नहीं करता वह नाम मात्र का नीच ब्राह्मण—ब्रह्मबन्धु—कहलाता है। अर्थात् ब्राह्मणों से उसका बन्धुत्व का केवल सम्बन्ध ही है ब्राह्मणों के से उसमें गुण नहीं हैं। ऐसे ब्रह्म बन्धु बहुत से हैं, किन्तु हमारे कुल में आज तक ऐसा एक भी ब्रह्मबन्धु नहीं हुआ।"

श्वेतकेतु ने कहा—"तो मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

पिता ने कहा—"अब तुम से क्या कहें, अब तुम सर्वथा बच्चे तो हो नहीं। तुम्हें स्वयं ही सोचना चाहिये। ब्रह्मवर्चस कामना वाले ब्राह्मण कुमार का ५ वर्ष की अवस्था में ही उपनयन होकर गुरुकुल वास होना चहिये, सो तुम्हारी अवस्था १२ वर्ष की हो गयी। अब तुम्हें ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके गुरुकुल में निवास करना चाहिये।"

श्वेतकेतु ने कहा—"जैसी आपकी आज्ञा है पिताजी! मैं वैसा ही करूँगा।" ऐसा कहकर श्वेतकेतु १२ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल चला गया। १२ वर्ष में उसने सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर लिया। अध्ययन तो कर लिया, किन्तु उन्हें यथार्थ अनुभव नहीं हुआ। चौबीस वर्ष की अवस्था के पूरे युवक होकर अपने को बहुत बड़ा विद्वान् मानकर, तथा वेदों की व्याख्या करने वाला समझकर अत्यंत ही उद्दण्ड भाव से घर लौटे।"

उनकी उद्दण्डता को ही देखकर पिता समझ गये, कि इसे अभी यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है अतः एक दिन बातों ही बातों में पिता ने पुत्र से पूछा—"बेटा, तुमने क्या-क्या पढ़ा है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! मैंने सब कुछ पढ़ा है, मेरा हृदय विशाल है, मैं अनूचान हूँ बड़ा भारी पंडित हूँ।"

पिता ने कहा—"वत्स! विद्या से विनय आती है, वह विनय

तुममें नहीं आयी। तुम अब तक अविनीति ही बने हो। अपने को अनूचान विद्वान् तथा पंडित बताते हो। वास्तव में पांडित्य के कोई लक्षण तुममें दिखायी नहीं देते। तुमने अपने आचार्य से ऐसा उपदेश पूछा है। ऐसा कोई आदेश, सीखा है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"कैसा आदेश, पिताजी!"

पिता ने कहा—"जिस एक आदेश के जान लेने पर अन्य सभी न सुने हुए सुने हो जाते हैं। जिस आदेश को जान लेने पर जितने भी अन्य अनिश्चित हैं सब निश्चित हो जाते हैं। जिस आदेश के जान लेने पर अन्य जितने भी अविज्ञात हैं अनिश्चित हैं, वे सब विज्ञात और निश्चित हो जाते हैं। ऐसा आदेश-ऐसा उपदेश-क्या तुम्हारे आचार्य ने तुम्हें बताया है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"ऐसा आदेश तो मेरे आचार्य ने नहीं बताया। वह कैसा आदेश है पिताजी!"

पिता ने कहा—"देखो, कुम्हार के घर जाओ। वह मिट्टी सानकर उसके पिंड बना-बनाकर रखता है। उन पिंडों को चाक पर चढ़ाकर भाँति-भाँति के घड़ा, सकोरा, कुल्लड़, नाद, हँड़िया परिया आदि बर्तन बनाता है। तुम एक मृत्तिका के पिंड के सम्बन्ध में पूरी जानकारी कर लो। फिर जितने भी मिट्टी से बने बर्तन हैं, सबका ज्ञान तुम्हें अपने आप ही हो जायगा। आप मिट्टी से कैसे भी, किसी भी आकार के, किसी भी प्रकार के, किसी भी नाम वाले बर्तन को देखोगे फिर झट कह दोगे, यह मिट्टी का बर्तन है। वह जो उसके लम्बे चौड़े, भारी, हलके, लाल, पीले, हरे रंग, विविध प्रकार के नाम केवल वाणी के विलास हैं। वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं; वे सब मिथ्या हैं; उन सब में सत्य पदार्थ तो मिट्टी ही है। अतः एक मिट्टी के पिंड को जान लेने पर समस्त मिट्टी के बने पात्रों का ज्ञान हो जाता है या नहीं?

तुमने मिट्टी के बहुत से बर्तनों का नाम भी नहीं सुना होगा। किन्तु अश्रुत पात्र तुम्हारे सम्मुख आवेगा तो, उसे देखते ही तुम कह दोगे, यह तो मिट्टी का पात्र है, क्योंकि उस कार्य के कारण का तुम्हें ज्ञान है। अब दूसरा दृष्टान्त सुनो।

तुम सुनार के यहाँ जाओ उसके यहाँ सुवर्ण के बहुत से पिंड पास रखे होंगे। वह उन सुवर्ण पिंडों को गलाकर उसके भाँति-भाँति के हार, कुण्डल, कटक, अँगूठी आदि आभूषण बनाता है। तुम एक सुवर्ण पिंड को भली-भाँति जान लो। उसके जान लेने पर तुम्हारे सम्मुख जितने भी अज्ञात, जितने भी अश्रुत, जितने भी, अमत सुवर्ण के आभूषण आवेंगे आप उन्हें देखते ही कह दोगे—ये तो सुवर्ण के आभूषण हैं। अब रहा नाम रूप, लम्बाई, चौड़ाई का झगड़ा सो ये तो वाचारम्भण मात्र हैं। वाणी द्वारा केवल व्यवहार के लिये कहे जाते हैं। उन आभूषणों में जो सत्य वस्तु है, वह तो केवल सुवर्ण ही है। क्योंकि एक सुवर्ण पिंड जानने पर सब सुवर्ण के बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है या नहीं?

अब तीसरा दृष्टान्त सुनो। तुम नाई के पास जाओ। उससे कहो—"भाई, हमारे नख काट दो।"

यह सुनकर वह अपनी पेटी में से नहन्ना (नख काटने का यन्त्र) निकालेगा। तुम उससे पूछो—"यह क्या है?"

वह कहेगा—"यह नहन्ना है।"

तुम फिर पूछो—"यह बना किससे है?"

वह कहेगा—"लोहे से बना है।"

तो तुम लोहे का सम्यक् प्रकार ज्ञान कर लो, फिर लोहे से बने जितने भी पदार्थ हैं—चाहे तुमने उनका नाम भी न सुना हो, चाहे तुमने उन पदार्थों के सम्बन्ध में कभी विचार भी न किया

हो, चाहे तुम्हें उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से भले ही कुछ ज्ञात भी न हो, आप लोहे की बनी वस्तुओं को देखते ही कह देंगे, यह तो लोहे की है। उसके नाम, रूप, आकार, प्रकार, लम्बाई, चौड़ाई ये सब तो केवल वाणी से कहने के लिये हैं। उनमें जो सदा रहने वाला सत पदार्थ है वह तो लोहा ही है। जिस एक के जान लेने पर सभी अश्रुत श्रुत हो जाते हैं सभी बिना विचारे हुए बिचारे से हो जाते हैं, बिना जाने, जाने की भाँति हो जाते हैं, ऐसा ही वह आदेश भी है।"

यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! यह तो आपने मुझे अद्भुत बात बतायी। मेरे आचार्य ने तो मुझे इसे बताया ही नहीं। संभव है, वे इसे न जानते होंगे, क्योंकि यदि वे जानते होते, तो मुझे अवश्य ही बताते। उनके न बताने का और कोई कारण नहीं हो सकता। अस्तु ये तीनों तो दृष्टान्त हुए। अब कृपा करके दार्ष्टान्त का–जिसको उद्देश करके ये तीनों दृष्टान्त दिये गये हैं—उस आदेश को आप ही मुझे बतावें।"

पिता ने कहा—"अच्छा, सौम्य! उसका भी मैं तुम्हें उपदेश करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अपने पुत्र की जिज्ञासा समझ कर जैसे महामुनि आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश करेंगे। उस प्रसङ्ग को मैं आगे आपसे कहूँगा इसमें सर्वप्रथम जगत् की सृष्टि का ही वर्णन है।"

छप्पय

(१)

श्वेतकेतु ने कह्यो—कौन आदेश पिताजी !
जाके जाने बिना जीत होवै नहिँ बाजी ॥
पितु बोले—घट, नाद, सकोरा नाम मात्र वच ।
बने मृत्तिका पिण्ड सबनि में माटी है सच ॥
आभूषन सोने बने, नाम रूप तिनिमें असत ।
वाचारम्भण मात्र हैं, सोनों तिनिमें एक सत ॥

(२)

एक नहन्ना सबहिँ लोह को ज्ञान करावै ।
वाचारंभ विकार सत्य लोहो कहलावै ॥
है यह ही आदेश मान अरु रूप निकारो ।
फिरि जो कछु बचि जाइ ताहि ई सत्य पुकारो ॥
सुत बोल्यो—मम गुरु नहीं, जावत नहिँ शिचा दई ।
आप बतावें कृपा करि, पितु बोले—सुनु जो सई ॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में
प्रथम खण्ड समाप्त ।

सत् से दृश्य जगत् की उत्पत्ति

[१८३]

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुर-सदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥*

(छां० उ० ६ अ० २ खं० १ मं०)

छप्पय

सत हि एक अद्वितीय प्रथम कछु असत बतावें ।
असतहिँ तैं सत भयो, व्यरथ मत—सतहि रहावें ॥
सत सोचे—'हौं बहुत होउँ' उत्पन्न तेज-बल ।
तेजहु 'बनि बहु जाउँ' सोच करि प्रकट्यो तब जल ॥
शोक पुरुष जबई करै, स्वेद अश्रु प्रकटैं तबहिँ ।
जल बहु बनि अबहि भयो, अन्न होइ बरसै जलहिँ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् त्रिवृत् है । तीन से ही सृष्टि की उत्पत्ति है । देखो, ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये तीन ही आदि देव हैं । लोक भी भू, भुव और स्वर्ग तीन ही हैं । सत्त्व, रज और तम गुण

---

*आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"अब तुम्हें बताता हूँ, कि एक के ज्ञान से सबका ज्ञान कैसे होता है । देखो सौम्य ! सृष्टि के आरम्भ में पहिले पहिल एकमात्र अद्वितीय सत ही सत् था । कुछ लोगों का इस विषय में मत है आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय असत् ही असत् था । उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई ।"

भी ये तीन ही हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान काल के भी ये तीन ही विभाग हैं। शरीर में भी वात, पित्त और कफ ये तीन गुण या दोष होते हैं। अवस्था भी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन ही हैं। उत्तम मध्यम और अधम ये तीन ही कोटि हैं। रंग भी मुख्यतया तीन ही हैं। काला, सफेद और लाल। कहने का सारांश यही है, कि जगत् त्रिगुणात्मक है। और तीनों के संयोग से ही यह सब चल रहा है। ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों का ही रचा हुआ यह प्रपञ्च है। इन सब में एक ही तत्त्व प्राप्त है, उस एक तत्त्व को जान लेने पर सबका ही बोध हो जायगा। उस तत्त्व को बिना जाने इस जगत् की त्रिगुणात्मक वस्तुओं के ही पीछे तुम पड़े रहोगे, तो यह उलझन सुलझने की अपेक्षा और अधिकाधिक उलझती ही जायगी। क्योंकि एक ही अनेक रूप में अभि यक्त हो रहा है। तुम चोरों के मारने के पीछे पड़े रहोगे, तो चोर और उत्पन्न होते जायँगे। अतः चोरों को न मार कर चोरों कि माँ को ही मार दो, कि चोर फिर उत्पन्न ही न हों। नदी की शाखाओं के पीछे पड़े रहोगे, तो उनका तो अन्त नहीं। नदी के उद्‌गम का पता जान लो सब रहस्य खुल जायगा। यह अनेक रूपों में दृश्यमान जगत् नाना नाम रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा है। तुम इसके मूल स्थान को, उत्पत्ति स्थान को जान लो। उस एक के जान लेने पर ही, तुम विज्ञाता सम्पूर्ण ज्ञाता बन जाओगे। वह आदि क्या है। सत्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब आरुणि महर्षि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को मिट्टी सुवर्ण और लोहे के तीन दृष्टान्त देकर यह बताया, कि मिट्टी के ज्ञान होने से मिट्टी के बने सभी पात्रों का ज्ञान हो जायगा। सुवर्ण के ज्ञान से सुवर्ण के बने समस्त आभूषणों का रहस्य खुल जायगा और लोहे के ज्ञान से लौह

निर्मित सभी वस्तुओं का निष्कर्ष समझ में आ जायगा; क्योंकि मिट्टी के समस्त पात्रों का, सुवर्ण के समस्त आभूषणों का, लोहे की बनी समस्त वस्तुओं का मूल, मृत्पिंड, सुवर्ण तथा लोह ही है, तो शङ्का होती है, इस जत का मूल कारण कौन है, जिसके जान लेने पर संसार की समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाय। इसी का उत्तर देते हुए आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहते हैं—"इस सृष्टि के पूर्व हे सौम्य! एक मात्र अद्वितीय सत् ही था।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! केवल यह ही कह देते कि सत् ही था एक और अद्वितीय ये विषेशण क्यों लगाया।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! सत् तो बहुत हो सकते हैं, इसलिये कह दिया वह एक ही सत् स्वरूप परमात्मा था।"

शौनकजी ने कहा—"सत्य तो एक ही होता है, उसमें द्वित्व सम्भव नहीं। अस्तु एक ही सत्य था, इतने से ही काम चल जाता, अद्वितीय क्यों कहा ?"

सूतजी ने कहा—"सत् एक ही है, यह सत्य है, उसी को सुदृढ़ करने को तो एक ही सत् था यह कहा। अब रही अद्वितीय क्यों कहा। सो इस शंका के निवारणार्थ कि उस एक सत् के जोड़ तोड़ का, उसके बराबर वाला या उससे छोटा भी कोई सत् हो सकता है। जैसे किसी राजा का युवराज है, युवराज तो एक ही होता है, किन्तु उससे बड़ा राजा भी तो एक होता है। राजा के बिना वह कुछ कर नहीं सकता। किन्तु अद्वितीय लगाकर कह दिया, उससे कोई बड़ा नहीं, उसके कोई बराबर नहीं, सभी उससे छोटे हैं।"

शौनकजी ने कहा—"छोटे ही सही। छोटे होने पर उसका अद्वितीयपन तो नष्ट हो गया।"

सूतजी ने कहा—"छोटों से अद्वितीयता नष्ट नहीं होती।

यह मल्ल अद्वितीय है, यह कहने से मल्ल मात्र का निषेध थोड़े ही है अभिप्राय इतना ही है, कि मल्ल तो बहुत हैं, किन्तु न इससे कोई बड़ा मल्ल है, न इनके कोई जोड़ तोड़ का बराबरी का मल्ल है। अर्थात् ये सबसे श्रेष्ठ हैं।"

शौनकजी ने कहा—"आरम्भ में वह एक ही अद्वितीय था, यह बात क्यों कही गयी। क्या वह आरम्भ में ही एक अद्वितीय सत् था। अब वह असत् द्वितीय और बहुत हो गया।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आप तो बाल की खाल खींचते हैं। आरम्भ में कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि इस वर्तमान सृष्टि से पूर्व वही एक अद्वितीय सत् था। जो आरम्भ से ही सत् है वह असत् कैसे हो जायगा। आरम्भ में वट का बीज एक था, उसी से वृक्ष बना असंख्यों बीज बन गये। बीज चाहे जितने बन जायँ। उन सब में सत्यत्व–असंख्यों बीज पैदा करने की शक्ति-तो बनी ही रहेगी। उसका बीजपना जैसे पहिले था वैसे ही अब भी बना रहेगा।"

शौनकजी ने कहा—"देखिये, बीज जब वृक्ष बन जाता है, तो वह बीज नष्ट हो जाता है, उसका अस्तित्व मिट जाता है। बीज वृक्ष रूप में परिणित हो जाता है, इसी प्रकार सत् जब जगत् रूप में बन गया तो उसका सत्पना नष्ट होकर जगत्पना ही रह जाना चाहिये।

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आप तो तर्कहीन बात कह रहे हैं। बीज का मानों वृक्ष बन गया, तो उसका बीजपना नष्ट कैसे हुआ। बीजपना नष्ट हो जाता तो उस वृक्ष पर असंख्यों फल लगकर असंख्य बीज कैसे बन जाते? बीज ने बहुत बनने की कामना से वृक्ष का रूप रखकर अपने बहुत रूप बना लिये। वृक्ष बीज की ही परिणति है।"

शौनकजी ने कहा—"बीज अपने आप वृक्ष कैसे बन जायगा ? उसके लिये जल चाहिये, भूमि चाहिये, प्रकाश चाहिये तब अंकुर होकर बीज वृक्ष बनेगा।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यह बीज ऐसा है, कि इसके भीतर पृथ्वी, प्रकाश, जल सब भरा हुआ है। तभी तो यह अद्वितीय है. एक है, सत्य है सबका बीज है। बोलो, आगे चलूँ या और कोई शंका है ?"

शौनकजी ने कहा—"चलिये, महाराज आगे आपके 'अभिन्न-निमित्तोपादन' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'अनिवर्चनीय' 'अवाङ्मनस-गोचर' ये ऐसे दाव पेंच के शब्द हैं, कि आस्तिक व्यक्ति इससे आगे कुछ कह नहीं सकता।',

हँसकर सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन्! कुछ लोगों का कथन यह भी है, कि आरम्भ में यह एक मात्र अद्वितीय असत् था। उसी असत् से इस सत् जगत् की उत्पत्ति हुई। अर्थात् सृष्टि के पूर्व प्राग् अभाव था। पहिले कुछ था ही नहीं। सत् का अभाव था। अभाव से ही भाव हो गया। असत् से ही सत् की उत्पत्ति हो गयी।"

शौनकजी ने कहा—"उन लोगों का मत भी ठीक ही है। जब कुछ नहीं था तभी तो कुछ होगा। जब पहिले से ही जो विद्यमान् है, उसकी उत्पत्ति की तो कोई तुक ही नहीं। स्त्री के पेट में पहिले कुछ नहीं था। समय आने पर उसमें गर्भ रहा। बच्चा पैदा हो गया। असत् से ही सत् हुआ।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आप विद्वान् हैं, उलटे को सीधा और सीधे को उलटा सिद्ध कर सकते हैं, किन्तु आप स्वयं सोचें खाली पेट में अपने आप गर्भ आकर बैठ जायगा ? जब तक गर्भ का मूल कारण—जो रजवीर्य के रूप में हैं—गर्भ में आने से

पूर्व न रहेंगे तब तक गर्भ के वालक की उत्पत्ति होगी कैसे। बीज तो नित्य है। संसार का बीज जो सत् है वह तो सृष्टि के पहिले भी था, सृष्टि काल में भी है, सृष्टि के नाश होने पर भी रहेगा। उसी सत् से तो बहुतों की उत्पत्ति संभव है। असत् से सत् कैसे हो सकता है। इस मत का स्वयं ही खंडन करते हुए आरुणि मुनि अपने पुत्र से सिद्धान्त रूप में कह रहे हैं—"हे सौम्य! तुम ही सोचो, क्या यह संभव हो सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति हो सकती है। हाँ, सत् से तो सत् ही—वहुतों की– उत्पत्ति हो सकती है। अतः सिद्धान्त यही रहा कि सृष्टि के आरम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत्-ही-सत् था।"

शौनकजी ने कहा—"मान ली आपकी बात। आगे चलिये।"

सूतजी ने कहा—"जब उस सत् का अकेले-अकेले पड़े-पड़े मन ऊब गया तो, उसने इच्छा की। संकल्प किया–ईक्षण किया–कि मैं एक से वहुत हो जाऊँ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वे तो एक अकेले थे, अद्वितीय थे। यह इच्छा किधर से आ गयी?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन्! इच्छा समीक्षा, सृष्टि ये सब उनके पेट के भीतर ही भरी हुई थी। सहसा इच्छा फूट पड़ी।"

शौनकजी ने पूछा—"पहिले क्यों नहीं फूटी थी?"

सूतजी ने कहा—"महाराज, आप तो, साधुओं की सी बातें करते हैं। राजभवनों में सबका समय नियुक्त होता है। असमय में कोई काम नहीं होता। नौकर जब सूचना देते हैं, तभी नाचने गाने वाले, क्रीड़ा करने वाले सम्मुख आते हैं। कालदेव ने सूचना दी, तभी इच्छारूपी देवी संकल्परूपी देव आगे आये।"

शौनकजी ने कहा—"अच्छा तो फिर इच्छा ने—संकल्प ने—क्या किया ?"

सूतजी कहा—"संकल्प ही सृष्टि में कारण है। बिना संकल्प के—बिना कामना के—बिना इच्छा-संगम के—सृष्टि नहीं होती। सत् की इच्छा ने एक पुत्र प्रसव किया।"

शौनकजी ने कहा—"उस पुत्र का कुछ नाम भी तो होगा ?"

सूतजी ने कहा—"उसका नाम है तेज।"

शौनकजी ने पूछा—"तेज कहाँ से आ गया ?"

सूतजी ने कहा—"पिता से पुत्र कहाँ से आ जाता है। अपना आपा ही पुत्र बनकर प्रकट होता है। पुत्र से फिर पुत्र होते हैं उसके भी पुत्र होते हैं, ऐसे ही एक से अनेक हो जाते हैं। संसार में नित्य देखते नहीं हैं आप ?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, संसार में तो नित्य देखते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। उस तेज के कौन-सा पुत्र हुआ ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जो उत्पन्न होता है उसकी स्वाभाविकी इच्छा अपने समान बहुत उत्पन्न करने की होती है। अतः तेज ने इच्छा की मैं बहुत हो जाऊँ, नाना प्रकार से उत्पन्न होऊँ।" इस प्रकार इच्छा करने पर तेज से जल की उत्पत्ति हुई।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी उलटी बात कहते हैं। तेज उष्ण—गरम—होता है, उससे जल शीतल की उत्पत्ति कैसे सम्भव है ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यही तो विचित्रता है, ताप (उष्णा) से ही जल पैदा होता है। मनुष्य भी जब शोक सन्ताप करता है, गरम हो जाता है, तो उसके शरीर से स्वेद

बिन्दु निकलने लगते हैं, आँखों से भी अश्रुविन्दु निकलने लगते हैं। सन्ताप से जल उत्पन्न हो जाता है या यहीं।"

शौनकजी ने कहा—"हर्ष से भी तो नेत्रों में से जल निकलने लगता है।"

सूतजी ने कहा—"अत्यन्त हर्ष भी एक प्रकार की उष्णता ही है। अतः सिद्धान्त यही है, कि तेज से जल की उत्पत्ति होती है।"

शौनकजी ने पूछा—"फिर, पानी से अग्नि बुझ क्यों जाती है?"

सूतजी ने कहा—"जो जिससे उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न करने वाला शान्त हो जाता है। लड़के से पिता दब ही जाता है। तेज पुत्र का सम्मान करने के लिये शान्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"जल ने बहुत होने की इच्छा की या नहीं?"

सूतजी ने कहा—"यह तो स्वाभाविक ही है। उस जल ने ईक्षण-संकल्प किया-हम बहुत हो जायँ, अनेक रूपों में उत्पन्न हों, तब जल के 'अन्न' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। अन्न सब जल से ही उत्पन्न होते हैं। जहाँ कहीं वर्षा हो जाती है, जल की वृष्टि हो जाती है वहीं बहुत-सा अन्न उत्पन्न हो जाता है। अन्न से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति है। इन तेज, जल और अन्न में बीज रूप से ही सत्य देव नारायण अनुस्यूत हैं, ओत-प्रोत हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सब प्राणियों के कितने प्रकार के बीज हैं?"

सूतजी ने कहा—"इन सब प्रसिद्ध प्राणियों के तीन ही बीज होते हैं। एक तो अंडे से उत्पन्न होने वाले अंडज जीव पक्षी

आदि। दूसरे जीव-देह-पिण्ड से उत्पन्न होने वाले जीवज-पिंडज अथवा जरायुज जीव, मनुष्य पशु आदि और तीसरे भूमि को फोड़कर उत्पन्न होने वाले वृक्ष आदि।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमने तो अंडज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज ये चार प्रकार के बीज सुने हैं आप तीन ही प्रकार के बता रहे हैं, यह क्या बात है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यहाँ भगवती श्रुति ने स्वेदजों को पृथक् नहीं किया। जैसे उद्भिज बीज पृथ्वी फोड़कर उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही स्वेद से अपने आप जूँ, डाँस, मच्छर, जोंक, खटमल आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं। अतः उसने श्वेदजों की उद्भिजों में ही गणना कर दी। इसीलिये यहाँ तीन ही प्रकार के बीज भूत जीव बताये। अब ये सब खोल, गोलक, देह तो बन गये। जब तक इनमें चैतन्य प्रवेश न करे, तब तक ये कार्य रत कैसे हो सकते हैं। तब उस सत् देव ने ईक्षण किया-संकल्प किया—मैं जीवात्म रूप से इन सबमें प्रवेश करूँ। और पृथक्-पृथक नाम तथा पृथक्-पृथक् रूपों की इनमें अभिव्यक्ति करूँ।"

फिर उसने सोचा—"सृष्टि एक से नहीं होती, एकाकी रमण नहीं होता अतः जो ये मैंने तेज, जल और अन्न उत्पन्न किये हैं, इनके अधिष्ठातृदेवों को तीन-तीन बनाऊँ। क्योंकि सृष्टि में कारण कार्य और इच्छा या संकल्प ये ही तीन हेतु हैं। इसलिये तेज, जल और अन्न इन देवों में उस सत्देव ने जीवात्म रूप से अनुप्रवेश किया। उसके अनुप्रवेश करते ही ये सब क्रियाशील हो गये। तब सबका इन देव ने नाम रूप का व्याकरण किया। अर्थात् उन सबके पृथक्-पृथक् नाम और उन नामों के अर्थ उनके प्रयोग के प्रकार ये सब निरूपण किये (व्याक्रियन्ते अर्थायेन+इति—जब सबके नाम रखे और सबको त्रिवृत्-त्रिवृत् कर दिया

तो अनेक प्रकार की योनियों वाले जीव उत्पन्न हो गये। देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष आदि।

शौनकजी ने पूछा "ये तीनों देवता तेज, जल और अन्न त्रिवृत्-त्रिवृत् कैसे हुए। त्रिवृत् होने पर इनका स्वरूप कैसा बना इसे और समझाइये।,'

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तीन पदार्थ हैं। उन सबको आधे-आधे में बाँट दो। जैसे 'क' 'ख' और 'ग' हैं। क में ५० भाग तो 'क' का और ५० में—२५—२५ ख और ग का ऐसे 'क' ख और 'ग' से त्रिवृत् हो गया। इसी प्रकार 'ख' में ५० भाग तो 'ख' का और ५० में २५ 'क' का और २५ 'ग' का मिलाकर 'ख' त्रिवृत् हो गया। इसी प्रकार 'ग' में ५० भाग तो 'ग' का ५० में २५ 'क' का २५ ख का भाग मिला देने से ग त्रिवृत् हो गया। अर्थात् आधा अंश तो अपना और आधे में दोनों का मिला देने से त्रिवृत् हो जाता है। इस विषय को आगे स्पष्ट रूप से जैसे समझावेंगे, उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

तेज, अन्न, जल मिले त्रिविध साँचे उपजाये।
अण्डज, जीवज और तृतिय उद्भिज कहलाये॥
सत् सोच्यो—इनि घुसूँ नाम अरु रूप बनाऊँ।
त्रिवृत् त्रिवृत् इनि करूँ परस्पर पथक् कराऊँ॥
तेज, अन्न, जल, त्रिवृत् बनि, तीनि तीनि ते ह्वै गये।
कैसें ये सब बनि गये, कहूँ ताहि जैसे भये॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में
तृतिय खण्ड समाप्त।

———

त्रिवृत् करण क्या है ?

(१८४)

यदग्ने रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥*

(छां० उ० ६ अ० ४ खं १ मं०)

छप्पय

अग्नि रूप जो लाल तेज को शुक्ल रूप जल ।
कृष्ण रूप है अन्न अग्नि तैं निवृत अगिनिपन ॥
अग्नि तु वाक्-विकार सत्य हैं तीनि रूप ही ।
रवि में रोहित रूप तेज को शुक्ल नीर ही ॥
कृष्ण रूप है अन्न को, तीनि रूप ही सत्य हैं ।
चन्द्र तेज रोहित-उदक-सित असित हु यह अन्न हैं ॥

हम संसार में अपने ही यथार्थ रूप में किसी को नहीं देखते ।

---

* आरुणि उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कर रहे हैं—'तुम जो अग्नि में लाल, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप देखते हो ये क्रमशः तेज, जल और अन्न के ही रूप हैं। अब अग्नि में केवल अग्निपन ही नहीं रहा। तीनों के मिलने से अग्नित्व निवृत्त हो गया। क्योंकि अग्नि रूप केवल वाणी से कहने ही मात्र के लिये है, सत्य तो केवल तीन रूप ही हैं।"

सबको मिले-जुले ही रूप में देखते हैं। विशुद्ध पृथ्वी हमें नहीं दीखती। यह जो पृथ्वी हमें दीख रही है। इसमें पचास भाग ही पृथ्वी तत्त्व है शेष १२॥ भाग जल, १२॥ भाग तेज, १२॥ वायु और १२॥ भाग आकाश है। इसी प्रकार जो जल हमें दृष्टिगोचर हो रहा है। वह यथार्थ जल नहीं। इसमें सौ में पचास ही भाग जलीय तत्त्व है। शेष १२॥ भाग पृथ्वी, १२॥ भाग तेज, १२॥ वायु और १२॥ भाग आकाश है। इसी प्रकार पांचों भूतों में आधा भाग तो अपना होता है, शेष आधे में चार भाग चारों भूतों के होते हैं। इसे पंचीकरण कहते हैं। हमें जो भी भूत दिखायी देते हैं, सब पंची कृत ही हैं। सब जब पृथक्-पृथक् हो जायँगे, तब प्रलय हो जायगी क्योंकि क्रमशः सभी अपने कारणों में विलीन हो जायँगे। पृथ्वी जल में लीन हो जायगी, जल, तेज में लीन हो जायगा। तेज, वायु में लीन हो जायगा, वायु आकाश में ऐसे ही सभी अपने कारणों में लीन होते-होते, सभी का एकमात्र कारण वह केवल 'सत्' ही शेष रह जायगा। वह 'सत्' त्रिकाल बाधित है। वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान में—सभी कालों में—समान रूप से बना रहता है। जो सत् को छोड़कर अन्य का चिन्तन करेगा, वह उन्हीं के सदृश नाशवान्-सा हो जायगा, जो सत् का चिंतन करेगा। वह अविनाशी पद को प्राप्त कर सकेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पहिले ही बताया जा चुका है तेज, जल और अन्न इनसे ही सम्पूर्ण संसार की वस्तुएँ उत्पन्न हुईं। ये ही त्रिवृत् होकर जगत् में व्याप्त हैं। अतः ये ही तीन सत्य हैं। शेष तो वाणी का विकार मात्र है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये तीन ही सत्य कैसे हैं?"

उन्होंने कहा—"भगवन्! लोक में तेज वाले चार ही पदार्थ

हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत्। इनमें तेज, जल और अन्न ये ही व्याप्त हैं और ये ही सत्य हैं, शेष नाम आदि तो मिथ्या हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इस बात को पुनः समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"अच्छा, पहिले अग्नि को ही ले लीजिये। अग्नि में लाल, श्वेत और काला तीन ही रंग दृष्टिगोचर होते हैं। अग्नि में जो लोहित-लाल-रक्त होता है, वह अग्नि का अपना रंग नहीं, वह तेज का ही रूप है, फिर जो आपको शुक्ल-श्वेत रंग दृष्टिगोचर होते हैं, वे जल के रूप हैं, क्योंकि जल स्वभाव से स्वच्छ होता है। तीसरा जो काला रंग है, यह अन्न का-पृथ्वी का-रूप है। इन तीनों के रूपों को एकत्रित होने से-त्रिवृत् हो जाने से सब अग्नि का अग्निपना निवृत्त हो गया। अब भी जो सब लोग उसे अग्नि-अग्नि कहकर पुकारते हैं, वह अग्नि रूप विकार केवल वाणी से कथन मात्र के ही लिये है। सत्य तो केवल तीन रूप ही हैं, जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।"

इसी प्रकार अग्नि के सदृश सूर्य, चन्द्र और विद्युत् में भी समझ लें। जैसे आदित्य में भी हमें लाल, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप दीखते हैं। इनमें से लाल तेज का, शुक्ल जल का और काला अन्न का रूप है इस प्रकार आदित्य का आदित्यपना निवृत्त हो गया। अब आदित्य वाणी का विकार मात्र है, सत्य तो ये तीन रूप ही हैं। यही बात चन्द्रमा के सम्बन्ध में है। चन्द्रमा में भी लाल, शुक्ल और कृष्ण तीन रूप दीखते हैं। इनमें से लाल रूप तेज का, शुक्ल जल का और कृष्ण अन्न का रूप है। इस प्रकार चन्द्रमा में से चन्द्रत्व निवृत्त हो गया। चन्द्रमा रूप विकार केवल वाणी पर ही अवलम्बित है। इसमें सत्य तो ये तीन रूप ही हैं।

यही बात विद्युत् के सम्बन्ध में समझनी चाहिये। इसमें भी लाल, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रंग है। लाल तेज का, शुक्ल जल का, और कृष्ण का अन्न रूप है। इस प्रकार विद्युत् से विद्युत्त्व की निवृत्त हो गयी। अब उसका विद्युत् रूप विकार केवल कथन मात्र को ही है। सत्य तो ये तीन रूप ही हैं।

संसार में आप जहाँ देखें उसमें तेज, जल और अन्न ही दृष्टिगोचर होगा। संसार में रंग भी तीन ही हैं। लाल, काला और शुक्ल। शेष सभी रङ्ग मिश्रित हैं। ये सब भी एक सत् के ही अङ्ग हैं अतः वास्तव में तो एक मात्र सत् ही सत् सत्य है। सत् के अतिरिक्त सब ही परिवर्तनशील नाशवान् असत् है।

यह बहुत ही रहस्यपूर्ण बात है। गौतम गोत्रीय आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"देखो बेटा! इस त्रिवृत् करण को जानने वाले महा भाग्यशाली महागृहस्थ तथा महा श्रोत्रिय जो ब्रह्मपिंगण हैं, उन्होंने पूर्वकाल में कहा था, कि इस काल में हमारे कमनीय कुल में कोई भी बात अश्रुत नहीं है। अर्थात् इस त्रिवृत् करण को जान लेने पर हम सब सुन सकने में समर्थ हैं। हमारे कुल में कोई बात अमत नहीं है। अविज्ञात नहीं हैं हम त्रिवृत् करण के कारण सब कुछ जानते हैं क्योंकि इन पूर्व कथित अग्नि आदि के दृष्टान्त से सभी बातें जानी जा सकती हैं हमारे पूर्वजों ने यह सिद्धान्त भली-भाँति जान लिया था, जहाँ ललाई-लालरूप लोहित वर्ण दिखायी दे उस सबको तेज का ही रूप समझना चाहिये। जहाँ स्वच्छ, शुक्ल, शुभ्र रूप दिखायी दे समझ लो यह जल का ही रूप है और जहाँ कृष्ण-काला-सा-रूप दिखायी दे उसे अन्न का ही रूप समझना चाहिये और जो कुछ विज्ञात-सा है जानकारी है वह देवताओं का समुदाय है, क्योंकि सब देवता ही ज्ञान स्वरूप हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"ये तेज, जल और अन्न तीनों देवता किस प्रकार पुरुष को प्राप्त होकर इन तीनों में से तीनों ही पृथक्-पृथक् त्रिवृत् को प्राप्त होते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"यही जिज्ञासा श्वेतकेतु ने भी की थी, उसके उत्तर में महर्षि आरुणि ने यही कहा—"अच्छी बात है ये तीनों कैसे त्रिवृत्-त्रिवृत् हुए इस बात को मैं आगे कहूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"अब आरुणि जैसे त्रिवृत् का स्पष्ट वर्णन करेंगे उसे मैं आप से कहता हूँ।"

छप्पय

तीनि रूप ई सत्य नाम बानी विलास हैं।
अग्नि,सूर्य शशि, बिजुरि त्रिविधि बनि है प्रकाश हैं ॥
त्रिवृत् ज्ञान तैं भये सकल सर्वज्ञ सुरूप हैं।
जाने लोहित तेज, शुक्ल जल, कृष्ण अन्न हैं।
जो कछु है विज्ञात सो, सकल देव समुदाय हैं।
अब आदि जैसे त्रिविध, ताको बरनन करत हैं॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में
चतुर्थ खण्ड समाप्त।

अन्न, जल और तेज के त्रिविध परिणाम

[१८५]

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातु-स्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मा ँसं योऽणिष्ठ-स्तन्मनः ॥❀

(छां० उ० ६ अ० ५ खं० १ मं०)

छप्पय

थूल, मध्य अरु सूक्ष्म भाग सबके तीन हु तन ।
अन्न खायं. मल थूल, रक्त मध्यम, सूक्षम मन ॥
जल पीयो, मूत थूल, रक्त मध्यम, सूक्षम प्रन ।
तेज खायं, थुल अस्थि, मध्य मज्जा, सूक्षम वच॥
प्राण नीरमय–अन्नमय–मन तेजोमय वाक् हैं ।
श्वेतकेतु बोले—पिता ! पुनि समुझावें बात है ॥

भूख प्राणों को लगती है। नियमित समय पर अन्न न मिलने पर प्राण तड़फड़ाने लगते हैं। प्राण क्या है शरीर के भीतर की वायु का नाम ही प्राण है। भीतर रहते-रहते उसे घुटन होने लगती

❀ हम जो अन्न खाते हैं उसके तीन भाग हो जाते हैं, अत्यन्त स्थूल भाग पुरीष या विष्ठा होता है । मध्यम भाग मांस बनता है और उसका जो अत्यन्त सूक्ष्म भाग है उसी का मन बनता है।

है। अतः वह बार-बार बाहर आती है, भीतर जाती है। बाहर जो वायु भीतर से आती है उसे प्राण कहते हैं, बाहर से जो भीतर जाता है उसे अपान कहते हैं। जो जीवन दे उसे प्राण कहते हैं (प्राणिति=जीवति=इति प्राणः) श्वास न लें तो जीवन कैसे चले। अपान उस वायु का नाम है जो भीतर की ओर विचरती रहती है (अवागगमनवान् इति अपानः) इसलिये यद्यपि हम प्रतिदिन मनों वायु भीतर ले जाकर खाते हैं, पचाते हैं, फिर भी प्राण रूप वायु होने से वायु के खाने का श्रुति ने कथन नहीं किया। वायु के अतिरिक्त हम तीन वस्तुएं और खाते हैं। एक तो स्थूल अन्न—जौ, गेहूँ, चावल, उड़द, मूँग फल मूलकन्द आदि-आदि—दूसरी वस्तु है जल। शुद्ध जल भी यथेष्ट पीते हैं। दाल-भात, साग भाजी, दूध, दही, मट्ठा, घोल के रूप में भी बहुत-सा जल खाते हैं। तीसरी वस्तु है तेज। सूर्य की प्रत्यक्ष गर्मी भी पेट में जाती है। गरमागरम दाल-भात, दूध, खीर आदि के साथ भी तेज पेट में जाता है और घृत भी तेज है। इस प्रकार हम वायु के अतिरिक्त अन्न, जल और तेज तीन वस्तुएँ प्रतिदिन खाया करते हैं। हमारे पेट में जाकर ये सब वस्तुएँ ऐसे ही भरी नहीं रहती जैसे किसी गोदाम में बोरियाँ भरी हुई रखी रहती हैं। पेट में जाते ही क्रिया आरम्भ हो जाती है। ये सब वस्तुएँ तीन-तीन विभागों में में बटकर भीतर की धातुओं का इन्द्रियों का कैसे पालन-पोषण करती हैं। इसी बात को आरुणि महर्षि अपने पुत्र श्वेतकेतु से बता रहे हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! हम जो भी कुछ खाते-पीते हैं, वह उदर में जाकर तीन प्रकार का हो जाता है। इसी विषय को बताते हुए आरुणि अपने पुत्र से कह रहे हैं—"हे सौम्य! हमारे खाये पिये अन्न जलादि के उदर में जाकर स्थूल, मध्य और सूक्ष्म

तीन प्रकार बन जाया करते हैं। अन्न जाकर जठराग्नि में पकता है। उसके तीन भाग हो जाते हैं अत्यन्त स्थूल भाग जो वहाँ पृथक् हो जाता है। उसे तो किट्ट, मल, विष्ठा या पुरीष कहते हैं। वह तो मल द्वार से बाहर निकल जाता है। अन्न का जो मध्यम भाग है, उससे मांस बढ़ता है, वह मांस हो जाता है और अन्न का अत्यन्त ही सूक्ष्म भाग होता है उसका मन बनता है। इसीलिये यह कहावत है—"जैसा खाओ अन्न, वैसा बने मन।"

शौनकजी ने पूछा—"मन कोई स्थूल पदार्थ तो है नहीं, अन्न तो स्थूल है, इससे मन कैसे बनता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! कहा तो सही स्थूल अन्न में कुछ सूक्ष्म का भी अंश तो रहता ही है। सूक्ष्म का ही नहीं अत्यन्त सूक्ष्मांश से मन को आहार मिलता है। मन स्वयं भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है। इसलिये अन्न को ऐसे ही बिना सोचे विचारे, सर्वत्र सबके हाथ का, सब का स्पर्श हुआ, जैसी तैसी कमायी का अन्न न खाना चाहिये। जिसे अपने मन को पवित्र बनाना हो, उसे न्यायार्जित अन्न को ही, पवित्र व्यक्ति द्वारा बनाया हुआ, पवित्र पुरुषों द्वारा स्पर्श किया हुआ-परसा हुआ, अन्न पवित्रता के साथ, पवित्र स्थान में बैठकर पवित्र भावनासे-भगवान् को भोगादि लगाकर, पवित्र होकर खाना चाहिये। इतनी पवित्रता रखने पर तब पवित्र मन बनेगा। वीर्य की पवित्रता और मन की पवित्रता पर ही समाज की पवित्रता अवलंबित है। इसीलिये प्राचीन ऋषियों ने रोटी और बेटी की पवित्रता का अत्यधिक विचार बताया है। रोटी जहाँ तहाँ जिस किसी के हाथ की, जिस किसी स्थान पर न खानी चाहिये। ऐसे ही अपनी बेटी को जिस किसी सदाचार रहित अन्य वर्ण अन्य वर्ग के लोगों को न देना चाहिये। श्रेष्ठ आचार वाले सदाचारी स्ववर्ण के

मातृ-पितृ गोत्र बचाकर तब देनी चाहिये तभी समाज की पवित्रता स्थिर रह सकेगी। जिस समाज के लोग स्वेच्छाचारी यथेच्छ भोजी हो जाते हैं, वे धन वैभव संसारी भोग विलासों में भले ही बढ़ जायँ, किन्तु परमार्थ के पथ से तो वे पतित हो जायँगे। उनका मन परमार्थ पथ की ओर अग्रसर न हो सकेगा।"

अन्न की ही भाँति पीये हुए जल के भी तीन ही प्रकार हो जाते हैं। जल का जो अत्यन्त स्थूल भाग है, उसका तो मूत्र बन जाता है, मध्य भाग का रक्त और सूक्ष्मतम भाग का प्राण बन जाता है। जल के जीवन, भुवन, वन, नीर तथा पानीय आदि बहुत से नाम हैं। अन्न के बिना तो प्राण चिरकाल तक रह सकते हैं, किन्तु जल के बिना प्राणों का रहना कठिन है। शरीर में से जहाँ समस्त जलीय अंश निकल जायगा, वहाँ प्राणियों की मृत्यु हो जायगी। अतः जल के अत्यन्त सूक्ष्मांश से ही प्राणों का प्रीणन होता है।

यही दशा तेज की भी है। हम जो शरीर में घृत आदि तेजस् पदार्थ ले जाते हैं उसके अत्यन्त स्थूल भाग से हड्डी बनती है। मध्यम से मज्जा बनता है और अत्यन्त सूक्ष्म अंश से वाक् वाणी बनती है। इसलिये सिद्धान्त यह हुआ कि मन अन्नमय है। प्राण जलमय हैं और वाक् वाणी तेजमयी है।

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! अभी यह विषय यथार्थ रूप से मेरी बुद्धि में बैठा नहीं। आप इसी विषय को फिर से दृष्टान्त देकर मुझे समझाइये।"

अपने पुत्र की यह बात सुनकर महर्षि आरुणि उद्दालक श्वेतकेतु से कहने लगे—"हे सौम्य! यह पुरुष षोडश कलात्मक कहा जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! १६ कला कौन-कौन-सी हैं।"

सूतजी ने कहा—"जिनके द्वारा यह शरीर क्रियायें करता है, वे ये १६ कलायें हैं (१) प्राण, (२) श्रद्धा, (३) आकाश, (४) वायु, (५) अग्नि, (६) जल, (७) पृथ्वी, (८) इन्द्रियाँ, (९) मन, (१०) अन्न, (११) वीर्य, (१२) तप, (१३) मन्त्र, (१४) कर्म, (१५) लोक और (१६) नाम शरीर इन में कलाओं के रहते हुए ही पुरुष देखता है, सुनता है, मनन चिंतन करता है, विचार स्थिर करता है, सभी कर्मों को करता है, विज्ञान का अनुभव करता है। इन कलाओं के क्षीण हो जाने पर शक्ति का ह्रास हो जाता है। शक्ति अन्न से ही आती है।

शौनकजी ने कहा—"लोग बिना अन्न के भी तो बहुत दिनों तक जीवित रहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जीवित रहना दूसरी बात है। पीछे कह आये हैं, कि प्राण जलमय है वाक् तेजोमयी है और मन अन्नमय है। अन्न न खाने से मन भ्रमित हो जाता है। उन्मत्तता आ जाती है। स्मृति नाश हो जाती है। इसी बात को महर्षि आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए कहते हैं—"श्वेतकेतु! बेटा ! मैं तुझे एक अनुभव कराता हूँ। तू एक काम कर १५ दिन तू भोजन मत कर।"

श्वेतकेतु ने कहा—"यदि १५ दिन न खाने से मैं मर गया तो ?"

आरुणि ने कहा—"सौम्य ! तू मरेगा नहीं, क्योंकि प्राण तो जलमय हैं, तू यथेच्छ जल पीते रहना।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो अपने पिता की बात मानकर श्वेतकेतु ने १५ दिनों तक कुछ भी नहीं खाया। केवल यथेच्छ

जल पीता रहा। पन्द्रह दिन के पश्चात् वह अपने पिता आरुणि के पास आया। आरुणि ने कहा—"सौम्य श्वेतकेतु! कुछ बोलो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"आज्ञा करें भगवन्! क्या बोलूँ?"

आरुणि ने कहा—"अरे, तू तो चारों वेदों का ज्ञाता है ऋक्, यजु तथा साम के मन्त्रों का उच्चारण करो। साम का गान करो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! पन्द्रह दिन भोजन न करने से भूख के कारण—मुझे मन्त्रों का प्रतिभान—स्फुरण—नहीं हो रहा है। मेरा मस्तिष्क चकरा रहा है।"

पिता ने कहा—"देखो, बेटा! जैसे अग्नि है, उसे जलाकर उसमें यथेष्ठ सूखा ईंधन डाल दो तो उसमें चाहें जितना जल गरम कर लो चाहे जितना भोजन पकालो। यथेष्ट प्रज्वलित अग्नि से सभी कार्य सुचारुरूप से सम्पन्न हो सकते हैं। उस प्रज्वलित अग्नि में ईंधन न डालो तो वह शनैः शनैः क्षीण होने लगेगी। यहाँ तक कि अन्त में जुगनू के सदृश एक छोटी चिनगारी शेष रह जायगी। वह चिनकारी अग्नि की द्योतक मात्र है। उससे जल गरम नहीं हो सकता, चावल नहीं पकाये जा सकते। फिर उस छोटी सी चिनगारी को रुई द्वारा पतली लकड़ियों द्वारा प्रज्वलित करके यथेष्ट ईंधन दो, तो वह पुनः प्रज्वलित हो जायगी। फिर उस पर जो चाहें सो पका लो। जितना चाहो जलादि गरम कर लो।

इसी प्रकार वत्स! १५ दिन अन्न न खाने से तुम्हारी १५ कलायें क्षीण हो गयी है, एक प्राण की कला शेष रह गयी है, इससे तू पूर्व की भाँति वेदो का पाठ नहीं कर सकता। अब तू भोजन कर ले अपनी क्षीण हुई कलाओं को स्फुरित सचेष्ट कर ले। ये सब भोजन पाने से होंगी।"

पिता की आज्ञा मानकर उसने शनैः शनैः युक्त भोजन करके आहार को क्रमशः पूर्ण किया। शरीर सबल और स्वस्थ बन गया। तब वह पुनः पिता के समीप आया और बोला—"पिताजी! अब मैं स्वस्थ सबल हो गया। अब आप मुझे आज्ञा दें?"

आरुणि ने कहा—"ऋग्वेद के अमुक मंडल के अमुक मन्त्र को बोलो। सामवेद के अमुक स्तोत्र का गायन करो।"

पिता ने श्वेतकेतु से जो-जो भी पूछा उस सब को उसने तत्काल बता दिया।

तब आरुणि ने कहा—"देखो सौम्य! जैसे बहुत से ईंधन से प्रज्वलित अग्नि में पुनः ईंधन न डाला जाय, और वह क्षीण होते-होते खद्योत के समान—एक छोटी सी चिनगारी—अवशेष रह जाय, उसे रुई से, तृण से पुनः प्रज्वलित करके उसमें शनैः-शनै ईंधन डालते रहो। तो वह अपने पूर्व परिमाण की भी अपेक्षा अधिक प्रज्वलित हो जायगी। अधिक शक्तिशालिनी बन जायगी इसी प्रकार १५ दिन न खाने से तुम्हारी सोलह कलाओं से एक कला अवशिष्ट रह गयी थी। वह तुमने शनैः शनैः अन्न के द्वारा प्रज्वलित करके अभिवृद्धि को प्राप्त कर ली। अब जो तुमसे पूछा जाता है, उसका तू तुरन्त उत्तर देता है इसका कारण यही है कि अब अन्न के द्वारा तेरी समस्त कलाएँ परिपुष्ट हो गयीं। उनमें पूर्व की ही भाँति शक्ति आ गयी। इससे सिद्ध हो गया। मन अन्नमय है। प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! कहने सुनने से बात शीघ्रता से समझ में नहीं आती। वही बात अपने ऊपर पड़ती है, तो स्वयं के अनुभव से बात शीघ्रता से बुद्धि में बैठ जाती है। अतः पुस्तकी ज्ञान से अनुभवी ज्ञान श्रेष्ठ है। श्वेतकेतु ने जब स्वयं

पन्द्रह दिन कुछ न खाकर केवल जल पर ही रहने से इस बात का अनुभव कर लिया, कि मन अन्नमय है और प्राण जलमय है। तब उसकी बुद्धि में विशेषरूप से यह बात बैठ गयी। इस प्रकार भगवन्! महर्षि आरुणिक उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को षोडष कला विष्ट पुरुष का उपदेश करके मन अन्न का सूक्ष्माति सूक्ष्म अंश है। मन अन्नमय है यह बात सिद्ध कर दी। अब आगे सुषुप्ति काल में जीव की क्या स्थिति होती है। इसका वर्णन वे आगे करेंगे। आशा है आप सब इसे मनोयोग से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

दधि मथि सूक्ष्म घीउ अन्न सूक्ष्म त्यों ई मन।
जल सूक्ष्म ई प्राण तेज सूक्ष्म वाणी बनि॥
प्राण नीरमय, वाक तेजमय, मनहु अन्नमय।
अनशन में जल पियो प्राण नाशन को नहिँ भय॥
पन्द्रह दिन अनशन कर्यो, पितु बोले—सुत! वेद पढ़ि।
सुत बोल्यो—भूल्यो सबहिँ, पितु बोले—आगे न बढ़ि॥

(२)

जरी आगि में एक रहै चिनगारी चमकै।
सोलह में है शेष कला एकहि वह दमकै॥
'करि भोजन' सो कर्यो यादि सब वेद सुनाये।
अन्य कला प्रज्वलित करी इस्मृति सब आये॥
प्राण नीरमय अन्नमय—मन तेजोमय वाक हैं।
समुझि गयो सुत पितु वचन, प्रमुदित सुत अरु तात है॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में
पंचम, षष्ठ और सप्तम खण्ड समाप्त।

सबका मूल कारण सत् ही है

[१८६]

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य-
विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा
सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेन ँ स्वपितीत्या-
चक्षते स्व ँ ह्यपीतो भवति ॥*

(छां० उ० ६ अ० ८ खं० १ मं०)

छप्पय

आरुणि सुत सन कहत नींद में सत सपच नर।
निजकूँ होवै प्राप्त सूनरी बँध्यो कबूतर॥
प्राण बँध्यो मन रहै घूमि प्राननि ही आवै।
जल हि अन्न लै जाय ताहि तैं तन उपजावै॥
अच मूल तन को कह्यो, अन्नांकुर जल तेज उत।
तेजांकुर सत् ई कह्यो, आश्रय, मूल, प्रतिष्ठ सत॥

---

* आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—"तू सुषुप्ति स्वरूप को समझ ले। जब पुरुष सोता है, उस समय वह सत् से सबंधित हो जाता है। निज स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, इसी से सोते हुए को 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं। क्योंकि उस समय वह स्व—अपने-को ही अपीत—प्राप्त—होता है।"

जाग्रत अवस्था में हम मन के अधीन होते हैं। मन के ही अनुसार काम करते हैं, मन से ही मनन करते हैं, जिस इन्द्रिय का मन से विशेष संयोग हो जाता है। उसी के द्वारा उस इन्द्रिय के विषय को करने लगते हैं। स्वप्नावस्था में मन स्वतन्त्र हो जाता है। वह स्थूल इन्द्रियों की सहायता बिना ही सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा इच्छानुसार घूमता रहता है। बुद्धि उस समय क्रियाहीन-सी हो जाती है। अतः स्वप्नावस्था में कोई विषय क्रमबद्ध मनन नहीं होता। बैठे हैं वाराणसी में दृश्य देख रहे हैं पाटलपुत्र का। सब स्वप्न प्रायः असम्बद्ध होते हैं। दुःख-सुख जाग्रत अवस्था के ही सदृश होता है, क्योंकि जाग्रत अवस्था में भी मन ही मनुष्य के दुःख-सुख का कारण है। मन जिसे सुख मान ले वही सुख मन जिसे दुःख मान ले वही दुःख। स्वप्नावस्था में मन रहता तो स्वतन्त्र है, किन्तु वह क्रमबद्ध मनन करने में असमर्थ है। सुषुप्ति अवस्था में मन भी सद् में-आत्मा में-विलीन हो जाता है। उस समय न इन्द्रियाँ कार्य करती हैं और न मन ही। स्वस्वरूप में प्राप्त होकर पुरुष प्रसन्न होता है। जैसे परदेश में गया पथिक अनेक स्थानों में भटकता फिरता है, कहीं जल का कष्ट, कहीं भोजन का कष्ट, कहीं निवास का कष्ट कहीं दुष्टों के दुर्वचनों का कष्ट, कहीं चोर, ठग, दस्यु, धूर्तों का कष्ट परदेश में कष्ट ही कष्ट है। किन्तु वही पथिक जब अपने घर पर-नित्य निवास पर-अपने सदा रहने के स्थान में-पहुँच जाता है, तो तान दुपट्टा सो जाता है। वहाँ उसे अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी सुविधायें हैं। वह निश्चिन्त हो जाता है। इसी प्रकार स्वप्नावस्था में मन अपने स्वरूप को प्राप्त होता है। मनुष्य रोगी है और उसे गाढ़ निद्रा आ गयी तो वह सुषुप्ति अवस्था में रोगजनित सभी पीड़ाओं से निर्मुक्त हो जाता है। स्वजन की मृत्यु से जो शोकग्रस्त हैं, उन्हें

यदि गाढ़ी नींद आ जाती है तो वे सभी शोकों को भूल जाते हैं। यदि कोई मोह ग्रस्त व्यक्ति है और उसे किसी प्रकार गहरी नींद आ जाती है, तो वह निद्रावस्था में सभी मोह ममता जनित चिन्ता को विस्मरण कर देता है। उस समय न इन्द्रियाँ काम करती हैं, न मन न बुद्धि केवल एक प्राण जागता रहता है। अनुभव करने वाला पुरुष बिना सोये साक्षी रूप से जागता रहता है। तभी तो सोने के पश्चात् उठकर पुरुष कहता है—"आज बड़ी गहरी मीठी निद्रा आयी बड़ा सुख मिला।"

केवल पुरुष ही—आत्मा ही—सुखानुभूति करता है, प्राण क्रिया करते हुए इसके जीवित रहने की सूचना देते हैं।

सुषुप्ति में और समाधि में सुख तो समान ही है, किन्तु समाधि में एक विशेष प्रकार का सुख होता है, वहाँ मन प्राण को लिये हुए ज्ञान के साथ आत्मा में लीन होता है और सुषुप्ति में प्राण स्वतन्त्र क्रिया करते रहते हैं। मन अज्ञान के सहित आत्मा में लीन होता है, अतः अज्ञान के कारण सुखानुभूति भी उतनी अनुभव नहीं होती और अज्ञान चिरकाल तक मन को लीन नहीं रखने देता। कुछ ही काल में निद्रा भंग हो जाती है, वह सुख भी विलीन हो जाता है। समाधि में चिरकाल तक प्राण मन और ज्ञान आत्मा में विलीन होते हैं अतः वहाँ सुख भी विशेष होता है और वह स्थिति चिरकाल तक टिकी रह सकती है। अब विचारणीय विषय यह है कि सुषुप्ति अवस्था में जीव की स्थिति क्या होती है?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब श्वेतकेतु षोडश कला विशिष्ट पुरुष के उपदेश को भली-भाँति समझ गया, तब सुषुप्ति अवस्था में जीव की क्या स्थिति होती है। इसका उपदेश करते हुए महर्षि आरुणि उद्दालक अपने प्रिय पुत्र तथा सद् शिष्य श्वेतकेतु

से कहने लगे—"हे सौम्य ! अब तू सुषुप्ति स्वरूप को भी भली-भाँति समझ ले।"

व्यवहार में जब हम अपने किसी सेवक से कहते हैं—"अमुक बात जाकर देवदत्त से कह दो।"

तब वह सेवक आकर हमें सूचना देते हैं—"जी, देवदत्तजी ! तो सो गये हैं।"

'सो गये हैं' इसका अभिप्राय क्या हुआ ? अर्थात् उनके मन की वृत्ति विश्व के पदार्थों में न लगकर सत् में—आत्मा में—लीन हो गयी है। देवदत्त स्वपिति अर्थात् स्व—अपने—स्वरूप में वह अपीत—प्राप्त हो गया है। अर्थात् उनका मन बाह्य पदार्थों में भटकना बन्द करके आत्मसुख का अनुभव कर रहा है। इसी बात को दृष्टान्त से समझ लो।

एक कबूतर बाज़ या कोई भी पक्षी है, उसके पैर में बहुत लम्बी रस्सी बाँधकर उस रस्सी को किसी पेड़ की डाली में बाँध दो। पङ्ख वाले पक्षी का उड़ने का तो स्वभाव ही होता है, वह पङ्खों से आकाश में इधर-उधर उड़ता रहेगा। उड़ते-उड़ते जब वह श्रमित हो जायगा, तो पुनः आकर उसी स्थान पर लौटकर बैठ जायगा। जैसे समुद्र में जाने वाले किसी पोत की लम्बी बल्ली पर कोई पक्षी बैठ गया। पोत अथाह सागर में पहुँच गया। अब पक्षी आकाश में चारों ओर उड़ता है। कहीं समुद्र का अन्त नहीं दृष्टि गोचर होता, सर्वत्र उसे अनन्त अगाध समुद्र का जल ही जल दिखायी देता है। थककर वह पुनः पोत की बल्ली पर ही आकर बैठ जाता है, वहीं अपने श्रम को मिटाता है। वही उसका एक-मात्र आश्रय है। मन प्राण से बँधा है। प्राण न रहेंगे तो वहाँ मन भी न रहेगा।

श्वेतकेतु ने कहा—"शरीर का कारण क्या है ?"

आरुणि ने कहा—"शरीर का कारण प्राण है, प्राण रहते शरीर है, नहीं शव है।"

श्वेतकेतु ने कहा—"प्राण का कारण क्या है ?"

आरुणि ने कहा—"प्राण का कारण जल है, जल ही जीवन है। जल के सहारे ही जीवन रहता है।"

श्वेतकेतु ने कहा—"केवल जल से ही काम तो नहीं चलता। अन्न भी तो चाहिये। प्राण तो अन्नमय हैं।"

आरुणि ने कहा—"अन्न और जल में तादात्म्य भाव है। जैसे कोई आम ले जा रहा है। हम पुकारते हैं—'ओ आम!' तो वह व्यक्ति ही बोलता है। कोई दही बेच रहा है। हम पुकारते हैं—'ओ दही।' तो दही न बोलकर दही को ले जाने वाला ढोने वाला ही बोलता है। कोई आदमी गौ को पकड़े ले रहा है, तो उसे गोनाय—गौ ले जाने वाला—कहेंगे। कोई घोड़ा को ले जा रहा हो, तो अश्वनाय—घोड़े को ले जाने वाला कहेंगे। कोई पंक्तिबद्ध लोगों को एक साथ ले जा रहा हो तो उसे हम पुरुषनायक—सेनापति—कहेंगे। इसी प्रकार जल ही अन्न को भीतर ले जाता है। दाल भात साग रोटी में जल ही तो रहता है, जल के ही द्वारा वे बनाये जाते हैं जल के ही कारण वे कंठ से नीचे निगले जा सकते हैं। इसीलिये जल को अशनाय—अन्न को भीतर ले जाने वाला—कहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पानी रहित भुने चने, सूखे सत्तू भी तो लोग खा जाते हैं।"

सूतजी ने कहा—"चाहें सूखे सत्तू हों या भुने चने, इनमें भी थोड़ा बहुत जलीय अंश रहता ही है, फिर मुँह में जाकर मुँह का पानी भी इनमें मिल जाता है, ऊपर से पानी भी पीते हैं।

पानी की सहायता के बिना अन्न भीतर नहीं जा सकता। इसीलिये जल का नाम 'अशनाय' है। उसी अन्न से संशिष्ट जल द्वारा यह शरीर शुङ्ग अर्थात् अंकुर उत्पन्न होता है। अन्न जल के सम्मिश्रण से ही वीर्य बनता है। वीर्य गाढ़ा जल ही तो होता है। इसलिये शरीर का कारण जल--वीर्य-ही है। तुम स्वयं सोचो, अन्न के बिना वीर्य बन ही कैसे सकता है। अतः अन्न को छोड़कर शरीर का मूल कारण और कोई कैसे हो सकता है। अन्न ही अंकुर उत्पन्न करता है, उसके मूल में जो जल है जो अन्न को हाथ पकड़कर-रस्सी से बाँधकर भीतर ले जाता है, उस 'अशनाय' जल की खोज करो। जल के अंकुर द्वारा तेज की खोज करो। तेज के द्वारा जो सबका मूल कारण 'सद्' है उसकी खोज करो वास्तव में तो सत् से ही सबकी उत्पत्ति है। एक सत् को ही विद्वान् बहुत प्रकार से कहते हैं। एक सत् ही बहुत बन गया है। जितनी भी प्रजा है जितना भी यह दृश्यमान जगत है। सब सत्मूलक है। सभी का एकमात्र आश्रय निवास स्थान--सत् ही है। सभी का प्रतिष्ठा स्थिति--आयतन--सत् ही है।"

अन्न रूप अंकुर के द्वारा जैसे सद्रूप मूल का ज्ञान कराया गया, उसी प्रकार अब जल रूप अंकुर द्वारा सद्रूप मूल का ज्ञान कराया जाता है। मनुष्य को जब प्यास लगती है, तब उसे प्यासा--पिपासित-कहते हैं। प्यास क्यों लगती है, उष्णता के कारण। जिस अन्न को जल भीतर ले जाता है, उसे तेज--सूर्य सोख लेता है। क्योंकि सूर्य का नाम ही है वारि तस्कर--जल को चुराने वाला। सूर्य जल को समुद्र, नदी, तालाब, कूप तथा समस्त शरीरों से चुराता रहता है। सूर्य यदि जल को शरीरों से न चुरावे तो जल अपनी अधिकता के कारण शरीर को गीला कर दे। शरीर में शिथिलता आ जाय। इसलिये देह से सूर्य

निरन्तर जल को चुराता रहता है, अन्न के अंकुर भूत देह को अधिक आद्रता से बचाये रखता है। जब प्यास लगती है, तो उस पीये हुए पानी को तेज ही चुरा ले जाता है। इसीलिये जैसे गौ ले जाने वाले को गोनाय, घोड़ा ले जाने वाले को अश्वनाय कहते हैं, वैसे ही जल को ले जाने वाले उस तेज को 'उदन्या'—जल को ले जाने वाला—कहते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अन्न को भी भीतर ले जाने वाला तथा तेज द्वारा स्वयं सूखने वाले जल से शरीर रूप अंकुर उत्पन्न हुआ है। इस शरीर का मूल-भूत कारण अन्न के सदृश जल भी है, यह शरीर बिना मूल कारण के उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

एक मूल का पता लगने पर उसके द्वारा मूल की भी खोज की जाती है। जैसे अन्न शरीर का मूल है। अन्न का मूल कारण जल है और जल का मूल तेज है। जल तेज से ही उत्पन्न होता है। तेज का मूलकारण सत् है। 'सत्' का मूलकारण कोई नहीं। सत् कारण रहित सभी का मूल है। यह सम्पूर्ण प्रजा सत् से ही उत्पन्न हुई है। सत् ही सबका आयतन—निवास स्थल—है। सत् ही एक मात्र सबकी प्रतिष्ठा है। सत् के बिना कोई प्रतिष्ठित नहीं हो सकता, किसी का अस्तित्व संभव नहीं। अन्न, जल और तेज ये तीनों देवता पुरुष को प्राप्त होकर त्रिवृत्-त्रिवृत् (पंची करण के सदृश) प्राप्त हो जाते हैं। उसी के द्वारा जीवन चलता रहता है। जीवन की समाप्ति में पहिले वाणी मन में लीन हो जाती है। मरने के पूर्व पुरुष की बोली बन्द हो जाती है। वाणी के मन में लीन हो जाने से वह बोलने में असमर्थ हो जाता है। फिर मन प्राण में लीन हो जाता है। प्राण तेज में लीन हो जाता है, जब तक शरीर में उष्णता रहती है, तब तक लोग कहते हैं, अभी उष्णता शेष है। अर्थात् वह बोल नहीं

सकता, क्योंकि वाणी तो मन में लीन हो गयी घर परिवार तथा परिचित पुरुषों को पहिचान नहीं सकता, क्योंकि जिस मन के द्वारा मनन करके पहिचाना जाता है, वह मन प्राणों में लीन हो गया। वह हिल डुल भी नहीं सकता, क्योंकि जिस प्राण के द्वारा हिलने डुलने की क्रियायें होती हैं, वह प्राण तेज में लीन हो गया। अब वाणी, मन, प्राण को लीन किया हुआ तेज जब पर-देवता में लीन हो जाता है–शरीर ठंडा पड़ जाता है, तो उसे फिर मृतक घोषित कर देते हैं। उस समय अपने कारण सत्य स्वरूप परमात्मा का अनुसंधान करते हुए वह देह त्याग करता है, तो सत् को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि मरते समय जिस प्रकार का स्मरण करेगा, वैसा ही वह बन जायगा। ज्ञान पूर्वक नारायण का स्मरण करेगा, तो नारायण को प्राप्त होगा, भूत का स्मरण करेगा, भूत बन जायगा, पितरों का स्मरण करेगा, पितर बन जायगा। ज्ञान पूर्वक स्मरण करेगा, तो ज्ञान को प्राप्त होकर संसार के आवागमन से छूट जायगा, अज्ञान में मरेगा, तो जन्म-मरण के चक्कर में फिर-फिर भटकता रहेगा। यह जो सद्वाचक परब्रह्म परमात्मा है, वह अणिमा है। अर्थात् बुद्धि गम्य नहीं जैसे अणु दुर्विज्ञेय है, अगोचर है वैसे ही यह परब्रह्म परमात्मा है। यह जो जगत् है। वह परब्रह्म द्वारा ही व्याप्त है। वह सद् स्वरूप परब्रह्म परमात्मा सत्य है। हे श्वेतकेतो! वह आत्मा है, अन्तर्यामी है। वह तुम ही हो। उसे चाहे वह कहो चाहे तुम कहो उसमें वह और तुम का भेद नहीं।

यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! पिताजी इस विषय को मुझे आप फिर से समझाइये। अभी यह विषय मेरी बुद्धि में ठीक-ठीक बैठा नहीं।"

यह सुनकर महर्षि आरुणि उद्दालक ने कहा—"अच्छी बात है, वत्स ! मैं तुम्हें इसे फिर समझाऊँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब जैसे अनेकों दृष्टान्त दे-दे कर इस विषय को स्पष्ट करके समझावेंगे। उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

जल लै जावै तेज वासु तन तेजहि मूलक।
शोध तासु की करो आयतन हैं सन्मूलक॥
देव त्रिवृत् ह्वै जायँ तजे तन जब यह प्रानी।
मन में लय हो वाक् मनहु प्राणनि महँ जानी॥
प्राण तेज में तेज पर-देवहिँ होवै लीन यह।
अणिमा-आत्मा सत्य वह, तू ही है नहिँ अन्य वह॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में
अष्टम खण्ड समाप्त।
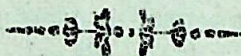
सुषुप्ति अवस्था में सत् प्राप्ति का ज्ञान नहीं

[१८७]

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाँ रसान् समवहारमेकताँ रसं गमयति ॥❀

(छां उ० ६ अ० ९ खं० १ मं०)

छप्पय

मधुमक्खीं मधु मधुर विविध सुमननि तैं लावैं।
मधु सब जब मिलि जाय कौन तरु-रस न बतावैं॥
त्यों सतकूँ करि प्राप्त न सत् कूँ नर पहिचानै।
नर सुषुप्ति तैं पूर्व व्याघ्र नर सूकर जानै॥
जागें पुनि होवैं वही, यह आत्मा अणिमा हु सत।
तू वह ही है सुदृढ़ करि, बार बार बतलाऊँ सत॥

सुषुप्ति अवस्था में पुरुष सत् को प्राप्त होता है। उस समय उसे बड़ा सुख प्रतीत होता है। रोगी अपने रोग को भूल जाता है, बन्दी अपने बन्धन को भूल जाता है, दीन हीन दुखी अपनी

❀ महर्षि आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"हे सोम्य! जैसे मधुमक्खियाँ इधर-उधर के बहुत से फूलों से लाकर मधु तैयार करती हैं, उसमें नाना वृक्षों के फूलों का रस लाकर एक ही छत्ते में सबको मिला देती हैं।"

दीनता हीनता तथा दुख को भूल जाते हैं, निर्धन अपनी निर्धनता को भूल जाते हैं। कैसी विचित्र स्थिति है। उस समय राजा, रंक, धनी निर्धन का भेद नहीं रहता।

एक राजा के महल के पीछे एक त्यागी महात्मा पड़े रहते थे। न उनके पास शैया थी, न बिस्तरा, न वस्त्र वैसे ही नंगे भूमि पर सो जाते। नींद पूरी होने पर अपने आप उठकर जहाँ चाहते घूम फिर आते। राजा उन्हें नित्य सुख से सोते हुए देखता। एक दिन राजा ने उन्हें बुलाया, आदर पूर्वक बिठाकर विनय के साथ पूछा—"भगवन् आपकी और मेरी स्थिति में क्या अन्तर है?"

"महात्मा ने कहा—"कुछ स्थिति में तो हम तुम दोनों समान हैं, कुछ स्थिति में हम तुमसे बढ़कर हैं।"

राजा ने कहा—"समान किस स्थिति में हैं?"

महात्मा ने कहा—"सोने के पूर्व तुम्हारे शयन स्थान को झाड़ा-बुहारा जाता है, उसमें सुन्दर सुगन्धयुक्त जल का छिड़काव होता है। बगुला के पंखों के समान स्वच्छ शुभ्र शैया पर भाँति-भाँति बिस्तरे बिछाये जाते हैं। उपधान (तकिये) रखे जाते हैं। जब तक निद्रा नहीं आती तब तक हमारी तुम्हारी स्थिति भिन्न रहती है। हम पर न शैया, न तकिया, न बिस्तर, न छिड़काव, न सुगंधित पदार्थ। जब घोर निद्रा आ जाती है। हम दोनों सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, उस समय हमारी तुम्हारी स्थिति समान हो जाती है। उस समय न आपको गद्दा तकिया का भान रहता है, न हमें नंगी भूमि का दोनों ही एक समान सत् में विलीन हो जाते हैं। उस स्थिति में तो हम तुम समान हैं।"

राजा ने पूछा—"बढ़कर आप किस स्थिति में हैं?"

महात्मा ने कहा—"जागने पर आपको राजकाज की, कुटुम्ब परिवार की, शत्रुओं और मित्रों की, सेनापति, मंत्री, राजकुमार

तथा समस्त प्रजा की नाना चिन्तायें आकर घेर लेती हैं। आप उन चिन्ताओं के कारण चिन्तित दुखी तथा शोकग्रस्त बने रहते हैं। उस जाग्रत अवस्था में हम तुमसे बढ़कर होते हैं। हमें कोई चिन्ता नहीं, कोई इच्छा नहीं, हम पर कोई संग्रह नहीं। हमने शरीर को प्रारब्ध के ऊपर छोड़ दिया है। जो प्रारब्ध में शरीर के भोग होंगे, वे बिना चाहे भी अवश्य प्राप्त होंगे। अतः हम शरीर को प्रारब्ध के अधीन छोड़कर चिन्ता, शोक, विस्मय से रहित होकर निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते हैं। उस स्थिति में हम तुमसे उत्तम हैं।"

सारांश यह है कि निद्रा आने पर पशु, पक्षी, मनुष्य, धनी निर्धन, राजा रंक सब समान हो जाते हैं। क्योंकि उस समय वे सत् को प्राप्त हो जाते हैं। अब प्रश्न यह होता है, कि सत् को प्राप्त करके भी जागने पर जीव दुखी क्यों हो जाता है ? उसका कारण अज्ञान है। सुषुप्ति अवस्था में जीव अज्ञान के साथ सत् में लीन होता है, उसे यह ज्ञात नहीं होता कि मैं सत् को प्राप्त हो गया हूँ। जैसे कोई व्यक्ति बहुत धनिक परिवार का है। उसके पूर्वज बहुत धनी थे। मरते समय वे बहुत-सा धन भूमि में गाड़ गये थे। काल क्रम से यह व्यक्ति निर्धन हो गया। भोजन के भी लाले पड़ गये। वह धन उसके नीचे ही गड़ा है। उस पर से नित्य ही पचासों बार आता जाता है, किन्तु उसे ज्ञान नहीं कि अपार धनराशि मेरे पैरों के नीचे गड़ी है। कोई सद्गुरु आकर उसे ज्ञान करा दे। अपार धनराशि का दिग्दर्शन करा दे, तो उसकी समस्त समस्यायें पूर्ण हो जायँ। उसकी निर्धनता सदा के लिये चली जाय।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब श्वेतकेतु ने यह शंका की, कि प्रजा के लोग जो प्रतिदिन सुषुप्ति अवस्था में सत् से मिलकर

सुखी होते हैं, फिर भी जागने पर उन्हें दुःख की अनुभूति क्यों होती है ? तो इसका उत्तर महर्षि आरुणि देते हैं—कि यह सब अज्ञान के कारण होता है। इस विषय में वे एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त देते हैं—जैसे सभी फूल वाले वृक्षों के रस का सार पुष्पों में आ जाता है। वह पुष्प रस अपने आप में मधुर है, मीठा है वृक्ष के रस का सारतत्व है। उसी रस को मधुमक्खियाँ ला-लाकर अपने छत्ते में एकत्रित करती जाती हैं। उस मधु में मधुरता तो होती ही है, मधुरता के साथ ही अन्य तिक्त, आम्ल, नमकीन आदि रस भी रहते हैं। भिन्न-भिन्न पुष्पों से वह रस चुनकर एकत्रित किया जाता है। एकत्रित हो जाने पर अब उन मधु बिन्दुओं को यह ज्ञान नहीं रहता कि मैं कटहल के फूल का रस हूँ, आम, जामुन, मल्लिका, जूथिका या पाटल के पुष्पों का। इसी प्रकार हे वत्स ! यह सम्पूर्ण प्रजा नित्य प्रति सुषुप्ति अवस्था में सत् को प्राप्त होकर भी यह नहीं जानती कि हम सत् को प्राप्त हो गये हैं, क्योंकि जीव अज्ञान के सहित सुषुप्ति अवस्था में सत् को प्राप्त होता है। सुषुप्ति अवस्था में तो चाहें अंडज, पिंडज, श्वेदज और उद्भिज किसी भी वर्ग का जीव क्यों न हो सबकी एक-सी ही स्थिति हो जाती है। जागने पर जो व्याघ्र है, अपने को व्याघ्र अनुभव करने लगता है। सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतङ्ग, डांस अथवा मच्छर जो भी कोई जीव हो वह अपने सोने से पूर्वरूप को व्याप्त करके अपने को दुखी-सुखी अनुभव करने लगता है।

इससे सिद्ध हुआ कि यह जो सत् स्वरूप अणिमा है एतद्रूप ही प्रजा के सभी जीव हैं वह सत्य है, उसी को आत्मा भी कहते हैं। बेटा श्वेतकेतु ! वही सब है। तू भी वही है। तत् त्वम् असि !

इस पर श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी! अभी मैंने इस विषय को पूर्णरीत्या समझा नहीं। हे भगवन्! इसे ही मुझे पुनः अन्य दृष्टान्त देकर समुझावें।"

महर्षि आरुणि ने कहा—"अच्छी बात है मैं और दृष्टान्त देकर इसी विषय को समझाता हूँ।"

देखो, जैसे बहुत-सी नदियाँ है। गंगा आदि बहुत-सी नदियाँ पूर्व वाहिनी हैं। उत्तर से बहती हुई पूर्व के समुद्र में मिल जाती हैं। सिन्धु आदि नदियाँ पश्चिम की ओर बहती हैं। मेघ समुद्र से जल लाकर वर्षा करके इन्हें बढ़ाते हैं। समस्त जलों का स्रोत समुद्र ही है। एक प्रकार से ये नदियाँ समुद्र से ही निकलती हैं बढ़ती हैं और अन्त में जाकर समुद्र में ही मिल जाती हैं। समुद्र में मिल जाने पर समस्त नदियाँ अपना अस्तित्व खो बैठती हैं। मिल जाने पर उनकी पृथक् सत्ता समाप्त हो जाती है, फिर वे यह नहीं जानतीं कि मैं गंगा हूँ, मैं सरस्वती अथवा सिन्ध हूँ। उसी प्रकार हे सौम्य! ये समस्त प्रजायें—ये समस्त चराचर—स्थावर जंगम जीव उस 'सत्' से ही निकलते हैं सब वहीं से आते हैं। आने पर अपने सत्स्वरूप को भूल जाते हैं। फिर उन्हें जो भी व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस तथा मच्छर जो-जो भी योनियाँ प्राप्त होती हैं, सुषुप्ति के पश्चात् वे ही वे फिर-फिर हो जाते हैं। यह जो अणिमा रूप सत् है, वही यह सब है। वह सत्य है, आत्मा है और श्वेतकेतु! तू भी वही है।"

जब आरुणि ने नदी का दृष्टान्त देकर समझाया, तब श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! यह विषय गहन है, इसे पुनः मुझे समझाइये।"

अपने पुत्र तथा शिष्य की बात सुनकर महर्षि आरुणि ने

कहा—"अच्छा, वत्स ! अब मैं तुम्हें इस विषय को दूसरा दृष्टान्त देकर समझाता हूँ।"

देखो, कोई बहुत भारी बहुत-सी शाखाओं वाला सघन वृक्ष है। उसके मूल में कोई कुल्हाड़ी से आघात करे, तो उसमें से रस-रक्त-स्रवित हो जायगा, किन्तु मरेगा नहीं। यदि कोई कुल्हाड़ी आदि शस्त्र से उसके मध्य भाग में आघात करे, तो भी वह मरेगा नहीं, केवल रक्तस्राव करके ही रह जायगा। इसी प्रकार उसके अग्रभाग में आघात किया जाय, तो भी वह सूखेगा नहीं। रसस्राव करके शनैः शनैः वह घाव भर जायगा। क्योंकि वह वृक्ष जीवात्मा से ओत प्रोत है और अपनी भूमिगत जड़ों द्वारा जलपान करता हुआ आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा है। क्योंकि इसमें सर्वत्र जीवात्मा व्याप्त है। यदि एक शाखा को जीवात्मा परित्याग कर देता है, तो वह शाखा सूख जाती है। शेष वृक्ष हरा भरा बना रहता है। जिस-जिस शाखा को जीवात्मा परित्याग करता चलता है, वह-वह शाखा सूखती जाती है। जब सम्पूर्ण वृक्ष का परित्याग करता है, तो सम्पूर्ण वृक्ष सूख जाता है। वृक्ष ही सूख जाता है जीवात्मा तो ज्यों-का-त्यों जाकर दूसरी देह का आश्रय ले लेता है। इसी प्रकार यह शरीर है, जब जीव इस शरीर को छोड़कर चला जाता है, तो शरीर मर जाता है। जीवात्मा नहीं मरता। जीवात्मा तो जैसे पुराने कपड़ों को त्याग कर मनुष्य नये कपड़े पहिन लेते हैं, उसी प्रकार वह पुराने शरीरों को त्याग कर नये शरीर में जाता है। इसीलिये यह अणिमा जो है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है। हे सौम्य श्वेतकेतो ! वही तू है।"

आरुणि से श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी ! भगवन् ! इस विषय को और भी दृष्टान्त देकर मुझे समझाइये।"

आरुणि महर्षि ने कहा—"अच्छी बात है, सुनो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! पिता पुत्र का जिस अरण्य में सम्वाद हो रहा था, उसके सम्मुख एक वट वृक्ष खड़ा था। आरुणि ने अपने पुत्र से कहा—"वत्स! इस वट वृक्ष से एक पका हुआ वट का फल ले आ।"

पिता की आज्ञा पाकर श्वेतकेतु वट के समीप गया और वहाँ से एक वट का फल ले आया। लाकर उसने अपने पिता से कहा—"पिताजी! मैं आपकी आज्ञा से बट का फल ले आया।"

आरुणि ने कहा—"अच्छा, इसे फोड़ तो सही।"

पिता की आज्ञा से श्वेतकेतु ने दोनों हथेलियों से दबाकर फल को फोड़ दिया और आचार्य से कहा—"भगवन्! आपकी आज्ञानुसार मैंने इस फल को फोड़ दिया।"

महर्षि आरुणि ने कहा—"अच्छा सौम्य! तुम इसमें क्या देखते हो?"

श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! इसके भीतर अणु के सदृश बहुत से छोटे-छोटे बीज भरे हुए हैं।"

इस पर महर्षि आरुणि ने कहा—"अच्छा, वत्स! इन बीजों में से एक बीज बाहर निकालो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"निकाल लिया भगवन्।"

आरुणि—"अच्छा, इसे फोड़ो तो।"

श्वेतकेतु—"भगवन्! यह देखिये, मैंने इसे फोड़ दिया।"

आरुणि—"अच्छा, बताओ, फोड़ने पर इसमें क्या दिखायी देता है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"इसके भीतर तो कुछ भी दिखायी नहीं देता।"

आरुणि ने कहा—"वत्स! जो नहीं दिखायी देता वही

अत्यन्त सूक्ष्म वट बीज है। वह उस बीज की न दिखायी देने वाली सूक्ष्म अणिमा है। उसी अणिमा द्वारा इतने बड़े चौड़े-चौड़े पत्ते, इतनी मोटी-मोटी शाखायें, उप शाखायें, स्कन्ध, मूल तथा फल आदि हैं। इसी प्रकार जो अणिमारूप यह अत्यन्त सूक्ष्म 'सत्' है। उसी के द्वारा यह नाम रूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है।

देख, सौम्य! यह जगत् भी श्रद्धामय है। जो जैसी श्रद्धा करता है, वह वैसा ही हो जाता है। युक्ति शास्त्रवचन आप्तोपदेश ये सब श्रद्धा के ही ऊपर निर्भर करते हैं। अतः श्रद्धत्स्व "श्रद्धा करो–श्रद्धा करो।"

आरुणि ने कहा—"कहो तो दूसरा दृष्टान्त देकर समझाऊँ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"समझाइये भगवन्!"

आरुणि ने कहा—"देखो, दूध में धवलता तो प्रत्यक्ष दिखायी देती है, किन्तु उसकी मधुरता का अनुभव प्रकारान्तर से ही होता है।"

श्वेतकेतु ने कहा—"प्रकारान्तर से उपलब्धि कैसे होती है? इसे मुझे समझाइये।'

आरुणि ने कहा—"एक नमक की डली ले आ।"

श्वेतकेतु जाकर नमक की डली ले आया लाकर उसने कहा—"भगवन्! मैं नमक की डली ले आया।"

आरुणि ने कहा—"अच्छा, एक काम कर, एक पात्र में जल ले आ और उस जल में इस नमक को डालकर रख दे। कल प्रातः मेरे पास आना।"

श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया, नमक को पानी में डालकर रख दिया। रात्रि में वह नमक पानी में घुल मिलकर एक हो गया।

दूसरे दिन श्वेतकेतु पिता के पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करके बोला—"भगवन् मैं समुपस्थित हूँ।"

तब आरुणि ने उससे कहा—"वत्स! कल जो मैंने तुमसे जल में नमक डालने को कहा था, उस नमक को ले तो आओ।"

श्वेतकेतु गया, पात्र को उठा लाया। उसने हाथ डालकर बहुत टटोला, बहुत ढूँढ़ा किन्तु उसमें नमक नहीं मिला। तब उसने कहा—"भगवन् वह नमक तो इसमें मिलता ही नहीं।"

आरुणि ने पूछा—"वह नमक कहाँ गया?"

श्वेतकेतु ने कहा—प्रतीत होता है भगवन्! वह नमक इसी जल में विलीन हो गया है।"

आरुणि ने कहा—"तुम्हारा कथन यथार्थ है। नमक इसी जल में विलीन हो गया है।"

श्वेतकेतु ने कहा—"किन्तु भगवन्! वह हमें नेत्रों से दिखायी तो नहीं देता?"

आरुणि ने कहा—"वत्स! विलीन हो जाने पर वह नेत्रों द्वारा गोचर नहीं हो सकता। तुम इसे जानना चाहते हो, तो यह जिह्वा द्वारा जाना जा सकता है। तुम जल के ऊपर से कुछ विन्दु उठाकर आचमन करो।"

आचार्य की बात सुनकर श्वेतकेतु ने ऊपर से जल उठाकर उसका आचमन किया।

तब आरुणि ने पूछा—"कैसा स्वाद है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"यह तो नमकीन है।"

आरुणि ने कहा—"अब नीचे से जल निकाल कर आचमन करो।"

श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया, तब आरुणि ने पूछा—"यह कैसा है?"

श्वेतकेतु ने कहा—"यह भी वैसा ही नमकीन है।"

तब आरुणि ने कहा—"अच्छा, अबके बीच में से जल लेकर उसका आचमन कर।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया ? तब आरुणि ने पूछा—यह कैसा है ?"

श्वेतकेतु ने कहा—"यह भी नमकीन ही है।"

इस पर आरुणि ने कहा –"अच्छा, वत्स अब तुम इस जल को फेंककर मेरे पास आओ।"

श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। तब आरुणि ने कहा—वह नमकीनपना ऊपर नीचे, मध्य में कहाँ से आ गया।"

श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन् ! नमक जल के अणु-अणु में सर्वत्र व्याप्त था। उसमें विद्यमान था।"

इस पर आरुणि महर्षि ने कहा—"वत्स ! इसी प्रकार 'यह' 'सत्' भी निश्चय करके यहाँ सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है, किन्तु वह दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु अन्य युक्तियों द्वारा साधक उस सत् का स्पर्श करके उसका साक्षात्कार करते हैं। जैसे लवण को नेत्रों से न देखकर तैंने जिह्वा द्वारा उसकी उपलब्धि कर ली। उसी प्रकार सत् को लवण को अणिमा के समान श्रद्धा विश्वास द्वारा उपलब्ध कर सकता है।"

श्वेतकेतु ने पूछा—"भगवन् ! जब जीव सत् से ही उत्पन्न हुआ है और भ्रमवश नाना योनियों में भटक रहा है, तब वह पुनः 'सत्' को कैसे प्राप्त कर सकता है ?"

आरुणि ने कहा—"यदि पुरुष अपने को भूला-भटका अनुभव करने लगे, और कोई पथ प्रदर्शक आचार्य उसे मिल जाय, तो वह पुनः सत् को प्राप्त कर सकता है। आचार्यवान् पुरुष उस 'सत्' को जान सकता है इस विषय को इस दृष्टान्त से समझो।

कोई गान्धार देश का चोर है, उसने किसी गाँव में चोरी की। चोरी करते हुए वह पकड़ा गया। गाँव की पंचायत में यह अभियोग उपस्थित हुआ। पंचों ने सोचा—"कोई वस्तु तो यह चुराकर ले नहीं गया है। नयी अवस्था का है। भूल से इसने ऐसा साहस किया हो, अतः इसे कोई अधिक दण्ड नहीं दिया। दया करके इतना ही दंड दिया, कि इसकी आँखों में पट्टी बाँधकर इसे देश की सीमा के बाहर किसी घोर वन में छोड़ आओ।"

ऐसा ही किया गया। उसकी आँखों में कसकर पट्टी बाँध दी गयी। दोनों हाथ पीछे करके उन्हें भी कसकर बाँध दिया गया और गांधार देश की सीमा के बाहर घोर सघन वन में–जनशून्य स्थान में लोग उसे छोड़कर चले गये। उसके दोनों हाथ पीछे की ओर बँधे हुए थे, आँखों में पट्टी बँधी थी। स्वयं पट्टी खोलने में वह असमर्थ था। उसे दिशाओं का भी ज्ञान नहीं था। संयोग वश उसका मुख पूर्व की ओर था। उसने उधर ही मुख कर चिल्लाना आरम्भ किया—"मेरी आँखें बाँधकर यहाँ विजन वन में लाकर आँखें बँधे ही बँधे छोड़ दिया है। कोई मेरी वाणी सुनता हो तो मुझे बन्धन मुक्त कर दे।" इस प्रकार पूर्व की ओर चिल्लाकर उसने उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम चारों ही दिशाओं की ओर पुकार की।

संयोग की बात उसी समय किसी दयालु पुरुष के कानों में यह वाणी सुनायी दी। उसने आकर पीछे बँधे हुए हाथों को खोल दिया। आँखों की पट्टी भी खोल दी और पूछा—"तुम किस देश के हो ?"

उसने कहा "मैं गांधार देश का हूँ।"

उसने पूछा—"अब कहाँ जाना चाहते हो ?"

चोर ने कहा—"जहाँ का मैं निवासी हूँ, जहाँ से मेरी उत्पत्ति हुई है, उसी अपने मूल देश में—गान्धार—में जाना चाहता हूँ।"

उस दयालु व्यक्ति ने उसे मार्ग बताया—"देखो, सामने यह जो पगडंडी जाती है उससे तुम सीधे चले जाना। आगे जाकर गान्धार देश की सीमा की एक चौकी आवेगी। उसे पार करके अमुक गाँव आवेगा। फिर पूछते-पूछते अपने जन्म स्थान में पहुँच जाना।"

उनकी बात उसकी बुद्धि में बैठ गयी, वह स्वयं बुद्धिमान् था। पगडंडी को पकड़कर एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ गान्धार देश में पहुँच गया और फिर पूछते-पूछते अपने निज के घर में पहुँच गया।

महर्षि आरुणि उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"हे वत्स! हे सौम्य! जिस प्रकार वह बन्धनमुक्त व्यक्ति पूछते-पूछते अपने जन्मस्थल में पहुँच जाता है उसी प्रकार लोक में भी आचार्यवान् पुरुष ही उस सत् को जानकर उधर चल पड़ता है। उसको सत् की प्राप्ति में विलम्ब तभी तक है, जब तक कि वह देह बन्धन से विमुक्त होकर—मार्ग दर्शन की योग्यता प्राप्त नहीं कर लेता। जब वह ज्ञान नेत्रों से यथार्थ मार्ग को देखने लगता है, तब तो वह सत्सम्पन्न परब्रह्म—सत्—को प्राप्त हो जाता है। हे सौम्य! सत् स्वरूप जो यह अणिमा है एतद्रूप है यह सब दृश्य प्रपञ्च जगत् है। वह सत्य है वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो! वही तू है।"

इस पर श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन्! मुझे पुनः समझाइये।"

आरुणि ने कहा—"अच्छा, सौम्य! सुनो, एक व्यक्ति है। उसे सन्निपात हो गया है, कालज्वर से सन्तप्त है। कुछ ही काल

में मरने ही वाला है। उसके सगे सम्बन्धी इष्टमित्र बन्धु-बान्धव चारों ओर से उसे घेरे खड़े हैं। उनमें से कोई पूछता है—"आप मुझे पहिचान रहे हैं न ?" दूसरा पूछता है—"आप बतावें मेरा क्या नाम है ?"

उनकी बात सुनकर वह बोल तो नहीं सकता, किन्तु संकेत से ऐसा भान होता है, कि वह पहिचान रहा है। जब तक उसकी वाक्शक्ति मनमें विलीन नहीं हो जाती। मन भी जब तक प्राणों में लीन नहीं हो जाते और प्राण तेज में तथा तेज पर देवता में लीन नहीं हो जाता तब तक वह कैसे भी सही पहिचान लेता है। फिर जब उसकी वाणी मनमें, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज पर देवता में विलीन हो जाते हैं, तब वह किसी को भी पहिचानने में समर्थ नहीं होता।

इस प्रकार सौम्य ! जो अज्ञ हैं, अविद्वान् हैं वे तो अपनी व्याघ्रादि की पूर्व योनियों में प्रविष्ट हो जाते हैं, किन्तु जो ज्ञानी पुरुष हैं वे परमात्मा में प्रवेश करके पुनः नहीं लौटते वह जो अणिमा है एतद्रूप ही सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! वही तू है।"

इस पर श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन् ! पिताजी ! इस विषय को फिर भी आप मुझे समझावें।"

आरुणि ने कहा—"देखो, वत्स ! प्राचीन प्रथा ऐसी थी, कि सत्य की परीक्षा के लिये एक लोह खंड को गरम किया जाता था। सत्य बोलने वाला उसे उठाता था, तो उसका शरीर सत्य के प्रभाव से जलता नहीं था, किन्तु असत्य बोलने वाला अपने को सत्यवादी प्रमाणित करने के लिये उसे उठाता था, तो उसका शरीर जल जाता था। एक पुरुष ने चोरी की। राजकर्मचारी

उसे पकड़कर लाये और उन्होंने राजा से कहा—"इसने चोरी की है।"

चोर कहता है—"मैंने चोरी नहीं की।"

तब राजा कहता है—"अच्छा लोहे के परशु को तपाओ।" राजाज्ञा से परशु तपाया जाता है, यदि परशु उठाने से उसका शरीर जल जाता है, तो समझो इसने चोरी की है और मिथ्या-भाषण करके अपनी चोरी को छिपाता है। यदि उसका शरीर गरम परशु से नहीं जलता तो समझते हैं, यह सत्यवादी है इसने चोरी नहीं की। यदि शरीर जलने से वह चोर सिद्ध होता है, तो वह मारा जाता है उसे विविध यातनायें सहनी पड़ती हैं। यदि वह चोर नहीं होता, तो वह तत्काल छोड़ दिया जाता है।"

आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु से कह रहे हैं—"वत्स ! जिस प्रकार गरम लोहे के परशु की परीक्षा में सत्यवादी नहीं जलता असत्यवादी जल जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी का—विद्वान् का—पुनर्जन्म नहीं होता। अज्ञानी का अविद्वान् का बारम्बार जन्म-मरण होता रहता है। वह सत्रूप आत्मा एतद्रूप ही है, वह सत्य है, आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! वही तुम भी हो।"

श्वेतकेतु ने कहा—"पिताजी ! इतने दृष्टान्तों से अब मैं इस सम्बन्ध में जान गया।"

सूतजी हैं—"मुनियो ! इस प्रकार महर्षि आरुणि उद्दालक ने मधुमक्खियों का दृष्टान्त देकर तथा नदियों का, वृक्ष का, बट-बीज का, नमक का, बँधे हुए पुरुष का तथा मुमुर्षु पुरुष का दृष्टान्त देकर भाँति-भाँति से उस 'सत्' आत्मा को ही सबका मूल कारण सिद्ध किया। अब जैसे नाम की ब्रह्मरूप में उपासना की जाती है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

सरिता सागर मिलै एक मिलिकें है जावै ।
तरु जीवित तब तलक जीव जाते नहिँ जावै ॥
बट बीजहु नहिँ दिखै जासु तरुवर बड़ होवै ।
मिलै नमक पय नहीं दिसै घुलि एकहि होवै ॥
चोर आँखि पट्टी बँधे, विजन छोड़िकें गयो नर ।
पट्टी खोली नगर पथ, दयो, बतायो गयो घर ॥१॥
मरनशील नर वाकलीन मन मनहु प्रानमहँ ।
प्रान तेज परदेव माहिँ लवलीन तेज तहँ ॥
पहिचाने नहिँ फेरि लीन निज रूपहिँ होवै ।
तप्त लोह तैं जरै चोर सच्चो नहिँ रोवै ॥
सत्य सदा समरस रहै, यह आत्मा अणिमा हुसत ।
तू वह ही है सुहृद करि, बार बार बतलाउँ सत ॥२॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में नवम्, दशम्,
एकादश, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश, पञ्चदश,
षोडश खण्ड समाप्त ।

षष्ठोऽध्याय समाप्त ।

———

नारद सनत्कुमार सम्वाद

[१८८]

ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तँ होवाच यद्वेत्थ तेनमोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामिति स होवाच ॥❀

(छां० उ० ७ अ० १ खं० १ मं०)

छप्पय

नारद सनत्कुमार समीप गये उपदेशे ।
तुमने का का पढ़्यो बताओ सिखऊँ शेषे ॥
नारद बोले-वेद-चार इतिहास व्याकरन ।
श्राद्ध, गणित, उत्पात, तर्क, निधि, नीति तपोधन ॥
देव, ब्रह्म, नक्षत्र, क्षत, भूत, सर्प, संगीत सब ।
भगवन् ! जानत हौं सकल, आत्म तत्त्व समझाइ अब ॥

उपदेश करने के कई प्रकार हैं। जैसे किसी बिल्व के वृक्ष पर पका फल लगा है। पहिले तो कह दिया उस 'सर्वोपयोगी स्वादिष्ट

❀ एक बार देवर्षि नारद अपने अग्रज सनत्कुमारजी के समीप गये और जाकर उन्होंने निवेदन किया—"भगवन् ! मुझे उपदेश कीजिये।" इस पर सनत्कुमारजी ने उनसे कहा—"अब तक जो तुमने पढ़ा हो, जो-जो विद्यायें तुम जानते हो, उन्हें मुझे बतलाओ, उन्हें सुनकर तब मैं तुम्हें उससे आगे बताऊँगा।" यह सुनकर नारदजी ने कहा—

फल को तोड़ लो। किन्तु उड़कर कोई फल तोड़ नहीं सकता। पत्थर मारकर तोड़ने से वह भूमि पर गिर जायगा, टूट जायगा। अतः उसके लिये कहते हैं—"यह जो नीचे झुकी डाली है सुदृढ़ है, इसमें काँटे भी नहीं। इस पर पैर रखकर ऊपर की डाली को पकड़ लो। जब डाली पर चढ़ गये। तब कहा—हाथ से जिस डाली को थामे हुए हो, उस पर पैर रख लो, उसके ऊपर की डाली को पकड़ लो। जब उससे भी ऊँचे चढ़ गये, तो कहा—"तुम्हारे सिर के ऊपर जो डाली है, उसे देखो, उस डाली के ठीक सामने पका बेल लगा है, उसे तोड़ लो।" इतना सब बताने का, क्रमशः ऊपर चढ़ाने का एक मात्र उद्देश्य फल की प्राप्ति करना ही है।

किसी लक्ष्यभेदी ने एक काठ का पक्षी पेड़ के ऊपर बिठा दिया है। उस पक्षी की आँख को लक्ष्य बनाकर भेदना है। अतः वह शिष्य से कहता है—"सामने पेड़ों को देख रहे हो। उन पेड़ों में एक वट का वृक्ष है, उस वट वृक्ष की एक मोटी शाखा है, उस मोटी शाखा में से एक पतली शाखा उत्तर की ओर है, उस पर एक पक्षी बैठा है, उस पक्षी की बायीं आँख को लक्ष्य बनाओ। उसी पर दृष्टि स्थिर कर लो। और सबको भुला दो केवल आँख को ही देखो।

किसी को चन्द्रमा दिखाना है, तो पहिले वृक्ष दिखावेंगे, फिर शाखा पर दृष्टि स्थिर करायेंगे तब कहेंगे, इस शाखा के ऊपर देखो चन्द्र है।

छत के ऊपर कोई अमूल्य वस्तु रखी है, तो पहिले प्रथम सीढ़ी का परिचय करावेंगे, फिर दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं इसी प्रकार क्रमशः ऊपर चढ़ा ले जायँगे और उस अमूल्य वस्तु की प्राप्ति करावेंगे।

पिछले प्रकरण से सत् स्वरूप परब्रह्म परमात्मा की महिमा का वर्णन किया। अब इस सप्तम अध्याय में भूमा पुरुष की महिमा बतायी जायगी। उसी का उपक्रम बाँधने को पहिले नाम की महिमा बतायी जाती है। यह सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी सिद्धान्त को स्थिर करने पहिले नाम ब्रह्म की महिमा बताने के निमित्त नारद सनत्कुमार सम्वाद को आरंभ करते हैं—

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब भूमा पुरुष का माहात्म्य बताने के लिये नारद सनत्कुमार सम्वाद का आरम्भ भगवती श्रुति करती है—

ब्रह्माजी के सनककुमार, सनन्दनकुमार, सनातनकुमार और सनत्कुमार ये चार मानसिक पुत्र हुए। ये कुमार माया अविद्या से भी पूर्व ब्रह्माजी की मानसिक सृष्टि थीं। ये चारों भगवान् के कुमारावतार ही हैं। इन्होंने सृष्टि बढ़ाने के कार्य में ब्रह्माजी को योग नहीं दिया। ये चारों सदा ५–६ वर्ष के बालक ही बने रहते हैं। इनके मुख से सदा सर्वदा 'हरिः शरणम्' यही मन्त्र निकलता रहता है। ये मायातीत जीवन्मुक्त आदिकुमार हैं, इसके अनन्तर ब्रह्माजी ने अपने अंगों से प्रजापतियों की उत्पत्ति की। अपनी गोद से नारदजी को उत्पन्न किया। अंगुष्ठ से दक्ष को और इसी प्रकार अन्य प्रजापतियों को उत्पन्न किया। उन प्रजापतियों से सृष्टि वृद्धि करने को गृहस्थ धर्म स्वीकार करने को कहा—दक्ष, भृगु, वसिष्ठादि ने तो स्वीकार किया नारदजी ने गृहस्थ बनना स्वीकार नहीं किया। वह ज्ञान प्राप्ति के निमित्त ही प्रयत्नशील बने रहे।

ज्ञान पिपासा की शांति के निमित्त एक बार वे घूमते-फिरते अपने अग्रज सनत्कुमार की सेवा में समुपस्थित हुए। शिष्य भाव

से समिधा हाथों में लेकर विनम्रता पूर्वक वे उनके समीप गये और साष्टाङ्ग प्रणाम करके उन्होंने निवेदन किया—"भगवन्! मुझे उपदेश कीजिये।"

सनत्कुमारजी ने कहा—"नारद! कैसा उपदेश चाहते हो?"

नारदजी ने कहा—"मैं आत्मज्ञान का उपदेश चाहता हूँ।"

सनत्कुमार ने कहा—"आत्मज्ञान के लिये शास्त्रज्ञान साधन के रूप में आवश्यक है। पहिले तुम यह बताओ कि तुमने अब तक क्या-क्या अध्ययन किया है। तुम्हारी योग्यता जानकर जितना तुमने पढ़ लिया है, उसे छोड़कर तब आगे का उपदेश तुम्हें करेंगे। बिना योग्यता जाने वैसे ही तुम्हें उपदेश करने लगें, तोयह तो पिसे हुए को पीसने के समान है। अतः पहिले तुम जो कुछ जानते हो, उसका परिचय दो। जिन शास्त्रों का तुमने अब तक अध्ययन किया है उनके नाम गिनाओ उन्हें सुनकर तब मैं तुम्हें उससे आगे का ज्ञान बताऊँगा।"

तब नारदजी ने कहा—"भगवन्! जिसके मन्त्रों में अर्थ वश से पाद व्यवस्था होती है, उस ऋग्वेद को मैं जानता हूँ। पाद व्यवस्था से जो शेष हैं, उस यजुर्वेद को भी मैं जानता हूँ। जिसके मंत्र गाये जाते हैं उस गीतिमंत्र वाले सामवेद का भी मैंने अध्ययन किया है। विशेष धर्म वाला निगद चतुर्थ वेद अथर्व है उसे भी मैंने पढ़ा है। मन्त्र भाग तथा ब्राह्मण भाग दोनों का ही मुझे ज्ञान है। वेदों के अतिरिक्त जो इतिहास ग्रन्थ हैं, जिनमें देवता, ऋषियों और मनु पुत्रों के वंशों का वर्णन है, दश लक्षण वाले जो पुराण हैं, जो इतिहास-पुराण पंचम वेद कहे जाते हैं, उनका भी मैंने अध्ययन किया है। चारों वेद और इतिहास पुराणादि पंचम वेद जिस विद्या के द्वारा जाने जाते हैं उस वेदों के भी वेद व्याकरण का भी मुझे ज्ञान है। जिस व्याकरण द्वारा वैदिक

लौकिक शब्दों के अनुशासन का प्रकृति, प्रत्यय विभाग पूर्वक शब्द साधन की प्रक्रिया तथा शब्दार्थ बोध के प्रकार की रीति जानी जाती है। व्याकरण के अतिरिक्त परलोक पधारे पितरों का श्राद्धकल्प, गणित विद्या, दैव अर्थात् दैव द्वारा होने वाले उत्पातों की विद्या, जिस विद्या से भूमिगत निधि का ज्ञान होता उस महाकालादि निधि विद्या को, तर्क शास्त्र को, मैं जानता हूँ। नीति विद्या, देव विद्या, ब्रह्म विद्या, भूत विद्या जिसके द्वारा भूत, प्रेत, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच, नागादि ग्रहों की शांति होती है उसे भी मैं जानता हूँ।"

क्षत्र विद्या अर्थात् क्षत्रियों की विद्या राजनीति धनुर्वेदादि का भी मुझे ज्ञान है। जिस विद्या के द्वारा ग्रह नक्षत्रों का ज्ञान होता है, उस ज्यौतिष विद्या का भी मैंने अध्ययन किया है। जिन गारुड़ मन्त्रों से सर्पादि के विष उतारे जाते हैं उस सर्प विद्या का भी मुझे ज्ञान है। जिसके द्वारा गायन, नृत्य तथा वाद्य इन तीनों का ज्ञान हो उस देव विद्या संगीत का भी मुझे ज्ञान है। जिस विद्या से सब साधारण पुरुषों की आधि-व्याधि-शारीरिक और मानसिक रोगों-को चिकित्सा की जा सके उस जन विद्या-आयुर्वेद का भी मैंने अध्ययन किया है।

यह सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा -"नारदजी! तब तो आप सर्व विद्या विशारद हैं। तब आप मेरे समीप उपदेश लेने क्यों आये?"

यह सुनकर नारदजी ने कहा --"भगवन्! समस्त शास्त्रों का अध्ययन करने पर भी आदमी मूर्ख ही बना रहता है। जो क्रियावान् है—जिसने साधनों द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही विद्वान् है। मैं केवल मन्त्र वेत्ता हूँ अर्थात् शब्द ब्रह्मनिष्ठ हूँ। मैं आत्मवेत्ता—परब्रह्मनिष्ठ--नहीं हूँ।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"न सही परब्रह्मनिष्ठ-शब्द ब्रह्म-निष्ठ तो हो हो। शब्दब्रह्म के ज्ञाता तो हो ही। इसमें तुम्हें न्यूनता क्या दिखायी देती है?"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! मैंने आप जैसे ज्ञानियों के द्वारा सुना है 'तरति शोकं आत्मवित्' जो आत्मवेत्ता होता है, वह शोक सागर को पार कर जाता है-अर्थात् आत्मज्ञानी को-अनुकूल परिस्थित में-प्रतिकूल परिस्थित में-कभी भी शोक नहीं होता। मैं देखता हूँ मुझे शोक होता है। अपनी स्थिति का ज्ञाता तो अपना आपा ही है। अपने अतिरिक्त अपने अन्तःकरण की स्थिति को अन्य कोई समझ ही नहीं सकता। जब मैं स्वयं शोक का अनुभव करता है, तो सोचता हूँ, मैं आत्मवेत्ता नहीं। उसी आत्मज्ञान का उपदेश लेने आपके चरण कमलों में समुपस्थित हुआ हूँ। हे भगवन्! मैं शोक सागर में निमग्न हो रहा हूँ। मुझे शोक रूपी समुद्र से पार कर दीजिये मैं इतना जानते हुए भी अनजान बना हुआ हूँ।"

यह सुनकर महामुनि सनत्कुमार खिलखिलाकर हँस पड़े और हँसते हुए बोले—"नारदजी! आपका कथन यथार्थ है। तुमने जिन वेदशास्त्रों को गिनाया, जिनकी जानकारी तुम्हें है, वह सब के सब नाम ही है।"

नारदजी ने कहा—"नाम क्या?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्-वाणी पर अवलम्बित विकार केवल नाममात्र ही है। यह समस्त प्रपंच नाम रूपात्मक है।"

नारदजी ने कहा—"तो क्या मैंने जिन निगम-आगमों का नाम गिनाया है, वे सब के सब नाम ही हैं?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"हाँ भैया! सब का सब नाम ही

है। देखो, ऋग्वेद नाम है यजुर्वेद नाम है, सामवेद नाम है और चौथा अथर्ववेद नाम है तथा पाँचवाँ जो इतिहास पुराण है वह भी नाम ही है। वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या भूतविद्या, धनुर्वेद, राजनीति शास्त्र, ज्यौतिष, गारुड़शास्त्र, संगीत शास्त्र, शिल्पविद्या, यजुर्वेद शास्त्र ये सब ही नाम हैं। नाममय जगत् है। इसलिये तुम नाम की ही उपासना करो।"

नारदजी ने कहा—"नाम की उपासना कैसे करें ?

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो भी नाम वाले पदार्थ हों, सब में ब्रह्म भावना करो। सभी ब्रह्मरूप हैं।"

नारदजी ने पूछा—"इससे क्या होगा ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, ब्रह्मलोक पर्यन्त जो भी नामात्मक जगत् है। नाम की जहाँ तक गति है, वहाँ तक यह नामात्मक सब ब्रह्म ही है जो ऐसी उपासना करता है उसकी वहाँ तक यथेच्छ गति हो जाती है। इसलिये नाम को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! आपने जो कहा कि यह सम्पूर्ण जगत् नामात्मक है; यह तो सत्य ही है, किन्तु प्रभो! मैं यह जानना चाहता हूँ, क्या नाम से भी अधिक कुछ है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"है क्यों नहीं। नाम से भी अधिक एक वस्तु है।"

नारदजी ने कहा—"नाम से जो बढ़ कर हो, हे भगवन्! उसे ही मुझे बताने की कृपा करें।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, नारद! वाणी ही नाम से बढ़कर है वाक् न हो, तो इन शास्त्रादि को कौन विज्ञापित

करेगा। वाणी द्वारा ही सबका नाम लिया जाता है। यह ऋग्वेद है, यह यजुर्वेद है, यह सामवेद है। यह चौथा अथर्ववेद है, यह पाँचवाँ इतिहास-पुराण पंचम वेद है। यह वेदों का भी वेद व्याकरण है। यह श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात शास्त्र, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड़, संगीत शास्त्र, द्युलोक- पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद (सिंह व्याघ्रादि हिंस्र पशु) कीट-पतंग, चींटी पर्यन्त लघु वृहद् प्राणी, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, साधु-असाधु, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, सारांश जो भी नामात्मक जगत् के पदार्थ हैं, उनका विज्ञापन वाणी ही करती है। वाणी न हो तो यह कौन बतावे, यह आम है, यह जामुन है यह कटहल है। यह विष है। यह अमृत है। यदि वाणी न हो तो यह ज्ञान किस प्रकार हो कि यह कार्य धर्म है, यह अधर्म है। यह बात सत्य है, यह बात असत्य है। यह साधु पुरुष है यह असाधु पुरुष है। यह वस्तु मनोज्ञ है मन को अच्छी लगने वाली है। यह वस्तु अमनोज्ञ है—मन को अच्छी नहीं लगती। वाणी न होती, तो इन सबका बोध कैसे होता। केवल वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है,वही संज्ञा निर्धारित करती है, एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् बताती है। अतः नाम से श्रेष्ठ वाणी है। तुम वाणी को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"वाणी की ब्रह्मभाव से उपासना कैसे करें?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"जिसके द्वारा वचन बोला जाता है, वह वाणी देवी है। वही ब्रह्म का रूप है। इस भावना से वाणी की उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"इसका फल क्या होता है?"

सनत्कुमार जी ने कहा--"जो साधक 'वाणी ही ब्रह्म है' इस भावना से वाणी की उपासना करता है, उसकी गति वहाँ तक हो जाती है, जहाँ तहाँ वाणी की गति है। संसार में वाणी की ही सर्वस्व गति है। ब्रह्म तो वाणी का विषय है नहीं। वहाँ से तो वाणी लौट आती है। नहीं तो वाणी की सर्वत्र गति है। वाणी के उपासक की भी वहाँ तक गति हो जाती है।"

इस पर नारद जी ने कहा—"भगवन्! क्या वाणी से भी बढ़कर कुछ है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"है क्यों नहीं, वाणी से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! जो वाणी से भी बढ़कर है, कृपया उसी का उपदेश मुझे दीजिये। उसे ही मुझे बताइये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब वाणी से भी बढ़कर जो मन है। उसका उपदेश जैसे योगीराज सनत्कुमार नारदजी से करेंगे, उसे मैं आप सबको आगे बताऊँगा। उपनिषदों की प्रक्रिया पुराणादि से कुछ भिन्न है, किन्तु इन सबका पर्यवसान जाकर एक ही ब्रह्म में होता है, अतः इन उपाख्यानों का सार समझकर इनसे उपदेश ही ग्रहण करना चाहिये। नाम रूप के चक्कर में नहीं फँसना चाहिये।"

छप्पय–बोले सनत्कुमार—नाम यह तुम जानत जो।
करो उपासन नाम नाम ही ब्रह्म मानि सो॥
परे नाम तैं वाक वाक सब ई दरसावै।
साधु, असाधु, अधर्म, धर्म सत असत बतावै॥
ब्रह्मभाव तैं वाक की, करें उपासन वाग्गति।
पावैं स्वेच्छा गति सतत, वागहु तैं पर मन कथित॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में
प्रथम, द्वितीय खण्ड समाप्त।

नारद सनत्कुमार सम्वाद (२)

[१८६]

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसोभूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ।।*

(छां० उ० ७ अ० ३ खं० २ मं०)

छप्पय

द्वै फल मुट्ठी आइँ मिलै त्यों वाक नाम मन ।
मन ई तैं सब होइ आतमा लोक ब्रह्म मन ।।
मानि ब्रह्म मन करो उपासन मन गति पाओ ।
मन हू तैं जो बड़ो ताहि भगवन् बतलाओ ।।
मन तैं हू संकल्प बड़, बोले सनत्कुमार मुनि ।
संकल्पहिँ तैं होइ सब, भू, दिव, जल फल अन्न सुनि ।।

---

* 'मन ही ब्रह्म है' जो मन की इस प्रकार उपासना करता है, उसकी गति वहाँ तक स्वेच्छानुसार हो जाती है, जहाँ तक मन की गति है। नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! मनसे भी बढ़कर क्या कोई है ? इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"मन से भी बढ़कर है ही।" तब नारदजी ने कहा—"भगवन् ! उसी का मेरे प्रति कथन करें।"

साधारणतया समस्त इन्द्रियाँ मनके ही अधीन हैं। दशों इन्द्रियों में यदि मन प्रेरणा न करे तो मनके बिना केवल इन्द्रियाँ कार्य करने में समर्थ नहीं। इसलिये मन समस्त इन्द्रियों का राजा है। इसलिये जिसने मन को जीत लिया है वही इन्द्रियों का निग्रह करने में समर्थ होता है। स्थूल शरीर के भीतर एक सूक्ष्म शरीर होता है। उनमें दश इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन तथा बुद्धि ये सत्रह अवयव होते हैं। अन्तःकरण चतुष्टय-मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये कहने को चार हैं। वास्तव में तो ये मन के ही भेद हैं। जब मन मनन करता है, तब मन कहलाता है, वही मन जब चिंतन करता है तो उसकी चित्त संज्ञा हो जाती है। मन जब निश्चयात्मक हो जाता है तो उसी को बुद्धि कहते हैं। मन जब अहंकृति करने लगाता है तो उसी को अहंकार कहते हैं।

यह मन अन्न के अति सूक्ष्म अंश से बनता है। गर्भस्थ बालक के जब सब अंग बन जाते हैं, सातवें महीने में जब जीवात्मा शरीर में पूर्णरीत्या प्रवेश करता है, तभी मन शरीर में काम करने लगता है।

मन से ही यह सब जाना जाता है, बन्ध-मोक्ष का कारण भी मन को ही कहा गया है। भगवान् ने गीता में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए इन्द्रियों में मन को अपनी विभूति बताया है। मनके धैर्य, उपपत्ति (ऊहापोह करना) व्यक्ति (स्मरण) विसर्ग (विपरीत सर्ग) कल्पना (मनोरथवृत्ति) क्षमा, सत्, (विवेक वैराग्य आदि) असत् (रागद्वेषादि) आशुता (अस्थिरता) ये नौ गुण मनके कहे गये हैं।

सात्विक, राजस् और तामस इन भेदों से मन भी तीन प्रकार का होता है। जब मन सात्विक होता है। मन में सत्वगुण

की वृद्धि हो जाती है तब आस्तिकता आती है, भोज्यपदार्थ को बाँटकर खाने की भावना होती है, चित्त में उत्ताप (क्रोध) नहीं होता, शान्ति का अनुभव करते हैं, किसी को कष्ट न पहुँचाते हुए मधुर तथ्य वचन बोलने की भावना होती है। मेधा, बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, ज्ञान, अदम्भता, विनय, धर्मभाव ये गुण उदय होते हैं, निन्दित कर्मों के प्रति अरुचि होना ये सात्त्विक मन के लक्षण हैं।

जब मन रजोगुण से युक्त होता है, तब क्रोध दूसरों को मारने पीटने की इच्छा, दुःख को सुख समझने की प्रवृत्ति, दम्भ का बाहुल्य, कामुकता, न कहने योग्य मिथ्या वचनों को बोलना, अधीरता, अहङ्कार, ऐश्वर्यादि का अभिमान, जितने अपने हैं नहीं उससे अधिक अपने को प्रकट करना, सुख की अधिकाधिक इच्छा देश-विदेशों में घूमने फिरने की प्रवृत्ति, अपने को विख्यात करने की भावना ये सब भाव रजोगुणी मन में हुआ करते हैं।

जब मन तमोगुण से अविभूत हो जाता है तब नास्तिकता के भाव आने लगते हैं। मन में विषण्णता बनी रहती है, निद्रा, आलस्य, प्रमाद, मति का दुष्ट होना, निन्दित कर्मों के प्रति प्रेम होना, दिन में, रात्रि में सदा सोने की इच्छा बनी रहना, मूढ़ता तथा क्रोधान्धता एवं अज्ञान में सदा डूबे रहना ये भाव जब आने लगें तब समझना चाहिये मन तमोगुण से युक्त हो गया है।

वास्तव में मन जड़ है फिर भी वह चैतन्य शरीर के संसर्ग से आकाश पाताल को सदा एक करता रहता है। यह इतना चंचल है कि कभी स्थिर होकर बैठता ही नहीं। सदा कुछ न कुछ ऊहापोह घुनाबुनी करता ही रहता है। इसीलिये इस मन को मन से ही देखकर सदा इस पर कड़ी दृष्टि रखनी चाहिये।

यह बहुवृत्ति वाला है चारों ओर भटकने वाला है। इसके वश करने पर जगत वश में हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब सनत्कुमारजी ने सम्पूर्ण जगत् को नाममय बताया, तब नारदजी ने पूछा—"नाम से भी श्रेष्ठ क्या है, तब वाणी को महामुनि ने श्रेष्ठ बताया। वाणी अर्थात् इन्द्रियों को। जब इन्द्रियों से भी कोई श्रेष्ट है ऐसा प्रश्न नारदजी ने किया, तब महामुनि सनत्कुमार ने कहा वाणी से भी श्रेष्ठ मन है। वह वाणी से-अर्थात् इन्द्रियां से-उत्कृष्ट है। नाम और वाणी ये दोनों ही मन के अन्तर्गत आ जाते हैं। मन न हो तो वाणी बोल नहीं सकती। वाणी बोलेगी नहीं तो नाम का निर्देश करेगा कौन ? अतः वाणी और नाम दोनों मन में समा जाते हैं, उनमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। इस विषय को समझाने को भगवती श्रुति तीन दृष्टान्त देती है।"

जैसे दो आँवले के फल हैं, अथवा बेर के ही दो फल हैं या बहेड़े के दो फल हैं, उन्हें हाथ पर रखकर मुट्ठी बन्द कर लो तो दोनों फल मुट्ठी में आ जायँगे। क्योंकि ये तीनों प्रकार के फल मुट्ठ से छोटे हैं। यदि आप दो कोहड़ा के फल, या बिल्व के बड़े फल रखो तो वे मुट्ठी में नहीं आवेंगे, क्योंकि ये हाथ की हथेली से बड़े हैं। जिस प्रकार दो छोटे फल एक साथ मुट्ठी में आ जाते हैं, उसी प्रकार वाक्-वाणी-का और नाम का मन में अन्तर्भाव हो जाता है। मन के बिना कोई काम हो ही नहीं सकता।

एक विद्यार्थी है, उसने वेदों को पढ़ लिया है, यदि उसका मन पाठ करने को न हो; तो पढ़ लिखकर भी वह पाठ करने में समर्थ नहीं। जब वह मन से विचार करता है, कि मैं अमुक वेद के अमुक स्तोत्र का पाठ करूँ, तभी पाठ कर सकता हूँ। पाठ की ही बात नहीं। प्रत्येक कार्य में ही यह सिद्धान्त लागू होता

है। जब वह मन सोचता है, मैं 'अमुक काम करूँ' तभी काम कर सकता है। करने के अतिरिक्त मन के विन विचार भी नहीं कर सकता। जव मन में आता है "मैं पुत्रों की तथा उपयोगी पशुओं की इच्छा करूँ।" तभी वह इच्छा भी कर सकता है। कामना भी मन के बिना नहीं होती। जब सोचता है "मैं इस लोक की तथा परलोक की कामना करूँ" तभी वह कामना भी कर सकता है। इसलिये मन ही आत्मा है, मन ही लोक है, और मन ही ब्रह्म है। अतः मन की ब्रह्मभाव के उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"मन की ब्रह्मभाव से उपासना करने का फल क्या ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो साधक मन को ब्रह्म मानकर ब्रह्मभाव से मन की उपासना करता है उसकी गति वहाँ तक हो जाती है, जहाँ तक मन जा सकता है। उसकी स्वेच्छा गति हो जाती है। वह मन के सदृश हो जाता है।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन् मन से भी बढ़कर क्या कोई और है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"हाँ है क्यों नहीं। मन से भी बढ़कर कोई और है।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन्! जो मन से भी बढ़कर हो उसी का उपदेश आप मेरे प्रति करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"मन से भी बढ़कर संकल्प है। संकल्प के बिना मन कुछ कर नहीं सकता। जब मनुष्य संकल्प करता है तभी मन बोलने आदि की प्रेरणा करता है। संकल्प होने पर मन वाणी आदि इन्द्रियों को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है। संकल्प होने से मन नाम के प्रति प्रवृत्त करता है।

नाम मन में आते ही जिन मन्त्रों का पाठ करने का संकल्प हो वे सब मन्त्र नाम में एक रूप हो जाते हैं। फिर मन्त्रों में कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात् अमुक वेद के अमुक मंडल के अमुक स्तोत्र का वाणी द्वारा ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त अनुदात्त आदि उच्चारण करना है। मन तो संकल्प में ही प्रतिष्ठित है यह मन संकल्प रूप, लय स्थान वाले, संकल्प मय और संकल्प में ही प्रतिष्ठित हैं।

देखो, संकल्प के बिना किसी का अस्तित्व नहीं। यह जो पृथ्वी है, स्वर्गादि लोक हैं, इन्होंने जब इस बात का संकल्प कर लिया है, कि हमारा अस्तित्व है, तभी ये प्रतिष्ठित हैं इसी प्रकार वायु तथा आकाश भी संकल्प द्वारा ही स्थित होकर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। जल और तेज भी संकल्प के आधार पर ही अवस्थित हैं। जल तेज की संसिद्धि के निमित्त ही वृष्टि ने जल बरसाने का संकल्प किया तभी वृष्टि भी होती है। वृष्टि होने पर अन्न संकल्प करता है, अन्न की समृद्धि के निमित्त प्राण संकल्प करते हैं। क्योंकि प्राण अन्न जल के ही द्वारा अवस्थित हैं। जब प्राण परिपुष्ट होंगे, तभी साधक मन्त्रोच्चारण में समर्थ हो सकेगा, अतः प्राणों के संकल्प के निमित्त मन्त्र समर्थ होते हैं। मन्त्रों के द्वारा कर्म समर्थ होते हैं। अतः मन्त्रों के संकल्प से अग्नि होत्रादि कर्मों में प्रवृत्ति होती है। अग्नि होत्रादि कर्मों की सिद्धि के निमित्त अग्नि होत्रादि का जो फल स्वर्गादि लोक हैं, वे संकल्प करते हैं। स्वर्गादिलोकों की प्राप्ति के निमित्त समस्त भूत जात प्राणी समर्थ होते हैं। अर्थात् संकल्प से ही द्युलोक, भू लोक, वायु, आकाश, जल, तेज, वृष्टि, अन्न, प्राण, मन्त्र, कर्म कर्मों के फल तथा सभी प्राणी अपने-अपने कार्यों में समर्थ होते

हैं। सबसे श्रेष्ठ संकल्प ही है। इसलिये तुम संकल्प को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।

नारदजी ने पूछा—"संकल्प को ब्रह्म मानकर उपासना करने का फल क्या होगा ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो साधक संकल्प को ब्रह्म मान कर उसकी उपासना करता है, वह संकल्प सिद्ध हो जाता है। विधाता के रचे हुए जो ध्रुवादि नित्य लोक हैं, जिनमें भोग के समस्त उपकरण हैं, जिनमें किसी प्रकार की व्यथा नहीं है, उन लोकों में स्वयं अव्यथित होकर निवास करता है। उन परम प्रतिष्ठित लोकों में स्वयं प्रतिष्ठित होता है। सारांश यह है कि संकल्प की जहाँ तक गति है, वहाँ तक उस संकल्प को ब्रह्म मान कर साधना करने वाले साधक की स्वेच्छा गति हो जाती है।

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! क्या सकल्प से भी बढ़कर कोई श्रेष्ठ है।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"है क्यों नहीं, संकल्प से भी श्रेष्ठ कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन् ! जो संकल्प से भी श्रेष्ठ है, उसी का उपदेश कृपा करके मुझे दीजिये।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, भैया ! संकल्प से भी श्रेष्ठ चित्त है।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! पीछे तो नाम की अपेक्षा वाणी, वाणी की अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा संकल्प को श्रेष्ठ बताया। अब संकल्प से भी श्रेष्ठ चित्त को बता रहे हैं, तो चित्त में और मन में क्या अन्तर है ?"

सूतजी ने कहा—"अन्तर कुछ नहीं भगवन् ! संकल्प, ध्यान, ज्ञान, विज्ञानादि ये सब मन की ही वृत्तियाँ हैं। हम पहिले ही

बता आये हैं। मन ही जब मनन करने लगता है, मन कहलाता है। चिन्तन करने से, चित्त निश्चयात्मक होने से बुद्धि और अहंकृति करने से अहंकार के नाम से पुकारा जाता है। यहाँ एक वृत्ति से दूसरी वृत्ति श्रेष्ठ है ऐसा सिद्ध करते-करते अन्त में सबका पर्यवसान भूमापुरुष में करना है। अतः मन की वृत्ति पृथक् है, चित्त की वृत्ति पृथक् है। संकल्प से चित्त उत्कृष्ट है। चित्त की वृत्तियों के निरोध का ही नाम योग है।"

इसी बात को सनत्कुमार जी नारदजी को समझाते हुए कह रहे हैं—"नारद! संकल्प से उत्कृष्ट चित्त ही है।"

नारदजी ने पूछा—"चित्त संकल्प से उत्कृष्ट कैसे है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"देखो, संकल्प मनुष्य तभी करता है, जब वह चेतनावान् होता है। आम का फल श्रेष्ठ है, ऐसा जब चित्त में आवेगा, तभी आम की प्राप्ति का पुरुष संकल्प करेगा। संकल्प होने पर फिर मनन करता है, कि ग्रहण करने योग्य है। जब संकल्प हुआ, उसे प्राप्त करना चाहिये, मनन द्वारा निश्चय किया तब मन वाणी को प्रेरित करता है। वाणी बोले क्या? तब वाणी आम के नाम को स्मरण करके उसमें प्रवृत्त होती है? वाणी कहती है—आम नाम का जो कोई फल है, कौन सा आम? काशी का लँगड़ा, लखनऊ का सफेदा-मलीहाबादी, बम्बई का हापुस। इस प्रकार नाम लेकर उच्चारण करते हैं। पहिले वाणी का एक मात्र मुख्योद्देश्य मन्त्रोच्चारण ही माना जाता था, अतः वाणी नाम में प्रवृत्त होकर, नाम में मन्त्र एक रूप हो जाते हैं, और मन्त्रों द्वारा अग्निहोत्रादि कर्मों में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार चित्त चलने पर संकल्प, संकल्प से मनन, मनन से वाणी उच्चारण, वाणी से नामों सहित मन्त्रोच्चारण, मन्त्रों द्वारा कर्म होते हैं, इस प्रकार चित्त द्वारा ही संकल्प होकर

कर्मों में प्रवृत्ति होती है। अतः ये संकल्प नाम मन्त्रादि चित्त रूप अयन वाले हैं, अर्थात् चित्त के मार्ग का ही अनुसरण करने वाले हैं, चित्त मय हैं, चित्त में ही प्रतिष्ठित हैं। इन सब में प्रधानता चित्त की ही है।

इस बात को यों समझो। एक व्यक्ति है उसने वेद शास्त्रों का अध्ययन किया है, वह बहुज्ञ है, किन्तु अचित्त है अर्थात् विषय प्रयोजन निरूपण करने में असमर्थ है। तो उस अचित्त पुरुष के प्रति सर्व साधारण लोग ही कहने लगते हैं—"अजी, ये तो अस्थिर चित्त वाले हैं, इनकी बात का विश्वास न करना चाहिये। ये तो कुछ भी नहीं हैं। यह तो पढ़ लिखकर भी अपठित है, तभी तो ऐसी बिना सिर पैर की बातें बक रहा है। यदि यह कुछ जानता होता, कुछ बुद्धिमान होता तो ऐसी अस्थिर चित्त वाली बातें न करता।" इससे सिद्ध हुआ कि अचित्त पुरुष रहते हुए भी न रहने के सदृश है, वह पढ़ लिखकर भी मूर्ख के ही समान हैं।"

इसके विपरीत दूसरा पुरुष बहुत विद्वान् नहीं है। शास्त्रों का भी उसे अधिक ज्ञान नहां है। अल्पज्ञ ही है किन्तु स्थिर चित्त वाला है, दृढ़ निश्चयी है, चित्तवान् है, तो ऐसे दृढ़मति चित्तवान् पुरुष से ही सब लोग श्रवण करना चाहते हैं। उसकी बात का सभी लोग विश्वास करते हैं। इससे सिद्ध हुआ नाम, वाणी, मन संकल्पादि का एकमात्र आश्रय चित्त ही है। चित्त आत्मा है, चित्त ही प्रतिष्ठा है, इसलिये तुम चित्त को ही श्रेष्ठ मानकर इसकी ब्रह्मभाव से उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"चित्त को ब्रह्ममानकर उपासना करने का फल क्या है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"जो चित्त की ब्रह्मभाव से उपासना

करता है, वह चिन्तन किये हुए उपचित ध्रुवादि लोकों को स्वयं ध्रुव होकर शत्रुपीड़ादि व्यथा से रहित होकर प्रतिष्ठित होकर प्रतिष्ठा पाता है, उनमें उन लोकों मेंअव्यथित होकर निवास करता है। चित्त जहाँ तक पहुँच सकता है, वहाँ तक उसकी स्वच्छन्द गति हो जाती है, वह चित्तवान् बन जाता है।"

नारद जी ने पूछा—"भगवन्! क्या चित्त से भी बढ़कर कुछ है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"है क्यों नहीं, चित्त से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन्! जो चित्त से भी बढ़कर है, उसी का मुझे कृपा करके उपदेश करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, भैया? चित्त से भी बढ़कर है ध्यान। ध्यान चित्त से उत्कृष्ट है।"

नारद जी ने पूछा—"ध्यान चित्त से उत्कृष्ट कैसे है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, लोक में पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, जल, पर्वत तथा देवता आदि सभी ध्यानमग्न होकर अपने-अपने कार्यों में संलग्न हैं। लोक में भी जो पुरुष अपने सभी कार्यों को ध्यान पूर्वक करते हैं, वे श्रेष्ठ समझे जाते हैं। ऋषि मुनि ध्यान द्वारा ही महान माने जाते हैं, उनको जो महत्त्व प्राप्त होता है, वह मानो ध्यान के लाभ का ही अंश है। जो ध्यानपूर्वक कार्य नहीं करते ऐसे ध्यान हीन क्षुद्र पुरुष परस्पर में कलह किया करते हैं। वे पिशुन–दूसरों के दोष दुर्गुणों को देखने वाले होते हैं। मुख पर कुछ और परोक्ष में कुछ कहने वाले होते हैं। इनके विपरीत जो महान् हैं सामर्थ्यवान् पुरुष हैं वे लोग ध्यान के लाभ का ही अंश प्राप्त करते हैं। अर्थात् जिसका ध्यान जितना ही उत्कृष्ट होगा, वह उतना ही महत्व को प्राप्त

करेगा। अतः तुम ध्यान को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"ध्यान की ब्रह्मभाव से उपासना करने का फल क्या होगा?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"ध्यान को ब्रह्म मानकर उपासना करने वाला साधक ध्यानमय बन जाता है। जहाँ तक–जिन लोकों तक वह ध्यान कर सकता है उन लोकों तक उसकी स्वेच्छा गति हो जाती है। जिस लोक का ध्यान करे उसी लोक में पहुँचने की उसकी सामर्थ्य हो जाती है।"

नारदजी ने पूछा—"क्या भगवन्! ध्यान से भी उत्कृष्ट कोई है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"है, क्यों नहीं ध्यान से भी श्रेष्ठ है।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! जो ध्यान से भी श्रेष्ठ हो, कृपा करके उसी का उपदेश मुझे दीजिये।"

तब सनत्कुमारजी ने कहा—"ध्यान से भी श्रेष्ठ विज्ञान है।"

नारदजी ने पूछा—"ध्यान से श्रेष्ठ विज्ञान कैसे है?"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"देखो नारद! चारों वेदों को, इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात ज्ञान, निधि ज्ञान, तर्क शास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड शास्त्र, शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथ्वी लोक, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीटपतंग, पिपीलिका पर्यन्तसमस्त जीव, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, साधु-असाधु, मनोज्ञ-अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इह लोक, परलोक इन सबका ज्ञान, विज्ञान द्वारा ही होता है, अतः तुम विज्ञान को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! विज्ञान से तात्पर्य क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! विज्ञान से तात्पर्य विशेष ज्ञान से है। शास्त्रों को पढ़ लेना और बात है, उनके अर्थों का परिज्ञान होना ही विज्ञान है। शिल्पशास्त्रों तथा धर्मशास्त्रों में निपुणता का नाम विज्ञान है। पढ़े हुए को अनुभव करना—गुनना—इसी का नाम विज्ञान है। विविध प्रकार के ज्ञान को भी विज्ञान कहते हैं। चौदहों विद्याओं को अर्थ सहित विधिवत् पढ़कर उसे अनुभव में लाने का नाम विज्ञान है, विज्ञान से ही धर्म की वृद्धि होती है। ब्राह्मण के जहाँ आठ लक्षण बताये हैं। उनमें विज्ञान भी एक लक्षण बताया है। वे आठ गुण क्षमा, दया, विज्ञान, सत्य, दम, शम, अध्यात्मनित्यता और ज्ञान ये हैं। साधारणतया शास्त्रों के अर्थों को जानने की कुशलता तथा अन्य विषयों सम्बन्धी निपुणता का ही नाम विज्ञान है।"

नारदजी ने पूछा—"विज्ञान को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना का फल क्या होगा?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"विज्ञान को ब्रह्म मानकर उपासना करने वाले को विज्ञानवान्, ज्ञानवान् लोकों की प्राप्ति होती है। जहाँ तक भी विज्ञान की गति है, वहाँ तक विज्ञान को ब्रह्म मानकर साधना करने वाले साधक की गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! विज्ञान से भी कोई बढ़कर है क्या?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"क्यों नहीं है, विज्ञान से भी बढ़कर है ही?"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन्! जो विज्ञान से भी बढ़कर हो उसी का उपदेश कृपा करके मुझे दीजिये।"

सनत्कुमारजी ने कहा—"विज्ञान की अपेक्षा बल उत्कृष्ट है।"

नारदजी ने पूछा—"विज्ञान की अपेक्षा बल उत्कृष्ट कैसे है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"देखो, बल तीन प्रकार का होता है। शारीरिक बल, इन्द्रियों का बल और मनोबल। जो सह, ओज और बल कहलाते हैं सौ विज्ञानियों को एक बलवान हिला देता है। बल से ही उठ सकते हैं, उठकर परिचर्या कर सकते हैं। बल से ही गमन, दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, विज्ञानादि कर सकते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पर्वत, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद कीट-पंतग अर्थात् पिपीलिका से ब्रह्मा पर्यन्त सभी प्राणी बल से ही स्थित हैं। ये समस्त लोक बल द्वारा ही स्थित हैं। अतः तुम बल में ब्रह्म भाव करके उसकी उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"बल में ब्रह्म भाव से उपासना करने का फल क्या होगा ?"

सनत्कुमार ने कहा—"जो बल को ब्रह्म मानकर उपासना करते हैं, उनकी जहाँ तक बल की गति है, वहाँ तक गति हो जाती है। उनकी निर्बाध स्वेच्छा गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! बल से भी बढ़कर कुछ है क्या ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"क्यों नहीं, बल से भी बढ़कर है ही।"

तब नारदजी ने कहा—"भगवन् जो बल से भी बढ़कर है उसी का उपदेश मुझे दीजिये।"

इसपर सनत्कुमारजी ने कहा—"बल से भी उत्कृष्ट अन्न है।"

नारदजी ने पूछा—"बल से बढ़कर अन्न किस प्रकार है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"तुम दस दिन भोजन न करो। अन्न मत खाओ। तब देखो, कैसी दशा होती है।"

नारदजी ने कहा—"दश दिन अन्न न खाने से मर थोड़े ही जायँगे ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"भले ही मरो नहीं। जीवित ही बने रहो, तो भी दश दिन के पश्चात् भली-भाँति देख न सकोगे, भली-भाँति सुन न सकोगे, भली प्रकार मन्ता, बोद्धा, कर्ता तथा विज्ञाता न हो सकोगे। फिर यदि अन्न खाने लगो, तब भली प्रकार देखने भी लगोगे, सुनने भी लगोगे, मनन भी करने लगोगे, जानने भी लगोगे, कार्यों को करने भी लगोगे, और भली प्रकार विषयों के विज्ञाता भी हो सकोगे। "इसीलिये तुम अन्न को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन्! जो अन्न को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करते हैं ऐसे साधकों को क्या फल होता है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"उन्हें अन्नवान् और पानवान् लोकों की प्राप्ति होती है। जहाँ तक भी अन्न की गति है वहाँ तक उनकी स्वेच्छागति हो जाती है।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन्! अन्न से भी उत्कृष्ट कोई है क्या ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"है क्यों नहीं, अन्न से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन्! अन्न से भी बढ़कर जो कुछ हो उसी का उपदेश मुझे कीजिये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब अन्न से भी बढ़कर जैसे जल बताया है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

संकल्पहिँ करि ब्रह्म उपासन करें धीर मति।
स्वेच्छा गति ह्वै जाइ जहाँ तक संकल्पहिँ गति॥
संकल्पहु तैं चित्त बड़ो चित में सब होवैं।
चितमय ही नर होइ चित्त बिनु सब कछु खोवैं॥
ब्रह्म चित्तकूँ मानिकैं, करो उपासन नित्य नित।
ध्यान बड़ो है चित्त तैं, ध्यान ब्रह्म करि सतत चित॥

(२)

ध्यान करें चर-अचर ध्यान तैं श्रेष्ठ कहावैं।
ध्यान ब्रह्मकूँ मानि उपासन करि गति पावैं॥
ध्यानहु तैं विज्ञान बड़ो गति साधक पावैं।
बल विज्ञान महान ब्रह्म बल करि जो ध्यावैं॥
बल हू तैं बड़ अन्न है, अन्न बिना जीवन व्यरथ।
अन्न ब्रह्म करि उपासन, गति पावैं अन्नहिँ सतत॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम्, अष्टम् नवम् खण्ड समाप्त।

———

नारद सनत्कुमार सम्वाद (३)

[१८९]

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाँ स्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वा भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥*

(छां० उ० ७ अ० १० खं० २ मं०)

छप्पय

अपहु तैं जल श्रेष्ठ जगत-जन जलमय जानो ।
तृप्त कामना पूर्ण ब्रह्म जलकूँ जो मानो ॥
तेज जलहु तैं श्रेष्ठ तेज ही तैं जल होवै ।
तेज ब्रह्म जो भजै तेजमय लोकनि जोवै ॥
तेजहु तैं आकाश बड़, रवि, शशि, ग्रह सब ताहितैं ।
करें उपासन ब्रह्म खं, शुभ शं तेजहिँ पाहिँ तें ॥

---

* यह पुरुष जो जल ही ब्रह्म है, ऐसी उपासना करता है वह संपूर्ण कामों को प्राप्त कर लेता है तथा तृप्तिमान् होता है। जहाँ पर्यन्त जल की गति है, तहाँ पर्यन्त उस साधक की स्वेच्छा गति हो जाती है। जो जल को ब्रह्मभाव से भजता है। (नारद) जल से भी कुछ श्रेष्ठ है क्या ? (सन०) हाँ जल से भी श्रेष्ठ है। (नारद) मुझे हे भगवन् ! उसी का उपदेश करो।

श्रेष्ठता अपेक्षाकृत होती है। कोई पूछे कि अंकुर, वृक्ष, शाखा, फल और बीज इनमें कौन श्रेष्ठ है। तो इसका सहसा सर्वसमस्त कोई उत्तर दिया नहीं जा सकता। आप कहेंगे कि बीज श्रेष्ठ है। तो प्रतिवादी कहेगा—"बीज आया कहाँ से ? बीज भी तो वृक्ष से ही उत्पन्न हुआ है। पहिले वृक्ष हुआ उस पर बीज लगा। तो बीज की अपेक्षा वृक्ष ही श्रेष्ठ हुआ।" इस पर वादी कहेगा—"भाई वृक्ष बिना बीज के उत्पन्न हो नहीं सकता। बीज को भूमि में गाड़ते हैं, तब बीज जलादि अनुकूल परिस्थित पाकर अंकुरित होता है। फिर पल्लवित, पुष्पित तथा फलान्वित होता है। फल में पुनः बीज आते हैं। प्रत्येक बीज पुनः वैसा ही वृक्ष बनाने की अपने में सामर्थ्य रखता है। अतः श्रेष्ठ तो बीज ही हुआ।"

प्रतिवादी पुनः कहता है—"बीज बिना वृक्ष के हो ही नहीं सकता।" तब वादी कहता है—"वृक्ष भी बीज के बिना नहीं हो सकता।"

वास्तव में वृक्ष और बीज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यही बात पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, देह, नाम, प्राण तथा इन्द्रियों आदि के सम्बन्ध में है। इन सबका परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। प्राण बिना शरीर नहीं। प्राण, अन्न, जलमय हैं। फिर भी क्रम बताने को एक की अपेक्षा दूसरा श्रेष्ठ है, इसी को बताने के निमित्त यह प्रकरण प्रारम्भ किया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब सनत्कुमारजी ने सम्पूर्ण भूतों में अन्न को ही श्रेष्ठ बताया और उसका महत्त्व बताते हुए कहा कि संसार के समस्त प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। जीवन काल में वह प्राणियों द्वारा भक्षण किया जाता है। और वह स्वयं भी प्राणियों को खा जाता है (अद्यते अत्ति च भूतानि—

इति–अन्नम् ।) इस पर नारदजी ने पूछा—"क्या अन्न से भी कोई बढ़कर है।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"अन्न की अपेक्षा जल श्रेष्ठ है।"

तब नारदजी ने पूछा—"अन्न की अपेक्षा जल श्रेष्ठ कैसे है ?"

इसका उत्तर देते हुए सनत्कुमारजी ने कहा—"अन्न भी जल के बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस समय जल की वृष्टि नहीं होती है या कम वृष्टि होती है, तो समस्त प्राणियों में हाहा-कार मच जाता है। प्राणी सोचते हैं वृष्टि न हुई तो अन्न न होगा, अथवा कम वृष्टि हुई तो अन्न भी कम उत्पन्न होगा।" अतः वर्षा के बिना प्राणी दुखी हो जाते हैं।

इसके विपरीत जब अच्छी वर्षा हो जाती है, तो सभी प्राणी परम प्रसन्न हो जाते हैं। वे सोचते हैं—"अब के समय-समय पर अच्छी वृष्टि हुई है। यथेष्ट अन्न उत्पन्न होगा। प्राणियों की प्रसन्नता-अप्रसन्नता जल के ही ऊपर निर्भर है। जल ही जीवन है। यह पृथ्वी क्या है ? मूर्तिमान् जल ही है। पृथ्वी में से जलांश निकाल दो तो वह बिखर कर नष्ट हो जायगी। अन्तरिक्ष, स्वर्ग लोक, पर्वत, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, सिंह व्याघ्रादि हिंसक पशु, कीट पतंग तथा चींटी आदि पर्यन्त जितने भी छोटे-बड़े जीवधारी प्राणी हैं, वे सब मूर्तिमान् जल के ही स्वरूप हैं। इन सबमें से जलीय अंश निकाल दो, तो फिर किसी का अस्तित्व नहीं रहता। अतः तुम जल को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"जल की ब्रह्म भाव से उपासना करने का फल क्या है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"जल ही ब्रह्म है, जो इस भावना से जल ब्रह्म की उपासना करता है वह साधक अपनी समस्त कामनाओं की पूर्ति कर लेता है। जल का स्वभाव तृप्त करने का होता है, वह साधक सदा सर्वदा परितृप्त बना रहता है। जल की जहाँ तक गति है वहाँ तक उस साधक की अव्याहत गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! क्या कुछ जल से भी उत्कृष्ट है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं जल से भी श्रेष्ठ कुछ न कुछ है ही?"

नारदजी ने कहा—"तो ब्रह्मन्! जो जल से भी श्रेष्ठ हो, उसी का उपदेश मुझे कीजिये।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—जल की भी अपेक्षा उत्कृष्टतर तेज हैं।"

नारदजी ने पूछा—"यह जो तेज है वह जल से उत्कृष्ट कैसे है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"तेज जल का बाप है। तेज से ही जल की उत्पत्ति होती है। वायु जब निश्चल हो जाय, आकाश चारों ओर से परितप्त होने लगे वायु उध्ध्व हो जाय तो सब हा पानी-हा पानी चिल्लाने लगते हैं। अधिक गर्मी हो जाने से ताप बढ़ जाने से चींटियाँ भी अपने बिलों से अंडा ले-लेकर निकलने लगती हैं। तब लोग कहने लगते हैं, अब अत्यधिक उष्णता बढ़ रही है निश्चय ही वर्षा होगी। जैसे स्त्री के उदर को फूला देखकर गर्भ का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार उष्णता को उद्भूत हुआ देखकर जल की उत्पत्ति की संभावना होने लगती है। कारण कि तेज के बिना वृष्टि नहीं होती। तेज ही वर्षा का

हेतु है। वही तेज जब विद्युत् के रूप में गड़गड़ान-तड़तड़ान करके ऊपर की ओर चमकता है, इरछे-तिरछे बिजली चमकने लगती है, बादल गरजने लगते हैं, तब सबको निश्चय हो जाता है, अब तो वर्षा होगी ही। जैसे गर्भ ही उदर को फुलाकर शिशु को उत्पन्न होने की संभावना प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार तेज ही प्रथम प्रदर्शित करके वृष्टि की–जल वर्षा की संभावना उत्पन्न करता है। क्योंकि तेज द्वारा ही जल की उत्पत्ति होती है। अतः जल से तेज श्रेष्ठ है, इसीलिये तेज की ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"तेज की ब्रह्मभाव से उपासना करने का फल क्या है ?"

सनत्कुमार ने कहा—"जो तेज को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है वह साधक तेजस्वी तथा तेज सम्पन्न होता है, उसके मुख मंडल पर तेज दमकता रहता है। वह तेजयुक्त प्रकाशवान् लोकों को जाता है, जिसमें अन्धकार का नाम भी नहीं होता। जहाँ तक तेज की गति है वहाँ तक उस साधक की स्वेच्छा गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! क्या तेज से भी उत्कृष्ट कुछ है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"है क्यों नहीं। तेज से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन्! जो तेज से भी बढ़कर हो, उसी का उपदेश मुझे कीजिये।"

इस पर सनत्कुमारजी ने कहा—"तेज से भी बढ़कर है आकाश।"

नारदजी ने पूछा—"आकाश तेज से बढ़कर कैसे है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा अन्तरिक्ष ये सबके सब आकाश में ही स्थित हैं। यही नहीं रवि, शशि, विद्युत्, नक्षत्र तथा अग्नि सब के सब आकाश में ही अवस्थित हैं, आकाश न हो, तो शब्द कहाँ उत्पन्न हो। शब्द न हो, तो एक दूसरे को सम्बोधित कैसे करें। एक दूसरे का नाम लेकर जो हम पुकारते हैं, तो आकाश के द्वारा ही तो पुकारते हैं। जो भी शब्द श्रवण करते हैं उसे आकाश के ही द्वारा तो श्रवण करते हैं। सुने हुए शब्द का जो प्रत्युत्तर देता है, उसे भी आकाश के द्वारा ही पूछने वाला सुनता है। जितने जीव हैं, सब आकाश में ही तो रमण करते हैं। यही नहीं रमण करने के इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने के जितने भी संसार में पदार्थ हैं, वे सब आकाश में ही तो उत्पन्न होते हैं।"

पृथ्वी में कितने नीचे बीज पड़े रहते हैं, उन बीजों के अंकुर नीचे की ओर नहीं जाते। बीज चाहे पृथ्वी में उलटे पड़े हों अथवा सीधे सभी के अंकुर नीचे की ओर न जाकर आकाश की ही ओर उत्पन्न होकर आकाश में ही बढ़ते हैं। इसलिये सबका आधार आकाश ही है, अतः आकाश को ब्रह्म मानकर उसकी ब्रह्म भाव से उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"जो आकाश की ब्रह्म भाव से उपासना करते हैं। उनको क्या फल प्राप्त होता है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"जो आकाश को ब्रह्म मानकर उपासना करता है, उस उपासक की जहाँ तक आकाश की गति है, वहाँ तक स्वेच्छा गति हो जाती है। उसे उन दिव्य लोकों की प्राप्ति होती जो आकाशवान, प्रकाशवान तथा पीड़ा से रहित लोक हैं, जिनका विपुल विस्तार है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! क्या कोई आकाश से भी बढ़कर है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं आकाश से भी बढ़कर कुछ है ही।"

नारदजी ने कहा—"तो भगवन् ! जो आकाश से भी बढ़कर हो उसी का उपदेश मुझे दीजिये।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"स्मरण आकाश से भी श्रेष्ठ है।"

नारदजी ने कहा—"स्मरण क्या है ?"

सनतकुमार ने कहा—"किसी विषय को किसी भी इन्द्रिय द्वारा पहिले अनुभव किया हो। कालान्तर में वह विषय विस्मृति के गर्त में दब गया हो। पुनः समय पाकर वह विषय चित्त में इस्फुरण हो जाय, उसकी स्मृति आ जाय, उसी का नाम स्मरण है। एक स्थान पर बहुत से पुरुष बैठे हों, वे परस्पर में दूसरों को भूले हुए हैं। विस्मृति अवस्था में न बातों को सुन सकते हैं, न मनन कर सकते हैं, न विषय को जान ही सकते हैं। जब विषय की, सम्बन्ध की प्रयोजन की अथवा अधिकारी की स्मृति जाग्रत हो जाय उसी समय एक दूसरे की बात सुन भी सकते हैं, स्मृत विषय का मनन भी कर सकते हैं, परस्पर में एक दूसरे को जान भी सकते हैं। अपना पुत्र ही है, अपने ही पशु हैं, चिर-काल तक न देखने से वे विस्मृत हो गये हैं। जब स्मरण दिलाने से या स्मृति स्वतः ही जाग जाने पर उन्हें पहिचाना जा सकता है। उनमें पुनः अपनत्व स्थापित हो जाता है। समस्त सम्बन्ध स्मृति के ही ऊपर निर्भर हैं। जिन्हें सम्मोह हो जाता है उनकी स्मृति विभ्रम को प्राप्त हो जाती है। स्मृति विभ्रम से बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धिनाश से स्वतः नष्ट हो जाता है। अतः

आकाश से भी श्रेष्ठ स्मरण है। अतः स्मृति को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"स्मृति को ब्रह्म मानकर उपासना करने का फल क्या होता है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"जो साधक स्मरण को ही ब्रह्म मानकर उसकी ब्रह्मभाव से उपासना करता है, उसकी जहाँ तक स्मरण की गति है। मनुष्य जिन लोकों का स्मरण कर सकता है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छा गति हो जाती है।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई स्मरण से भी श्रेष्ठ है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं। स्मरण से भी श्रेष्ठ कुछ न कुछ है ही।

नारदजी ने कहा—"तो ब्रह्मन्! जो स्मरण से भी श्रेष्ठ हो, उसी का उपदेश मुझे कीजिये।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, यह जो आशा है, यह स्मरण से भी श्रेष्ठ है। आशा पर ही सम्पूर्ण संसार टिका हुआ है। जीवन में आशा न रहे तो पुरुष एक क्षण भी जीवित न रहे। प्राणीमात्र किसी न किसी आशा से ही जीवित बने रहते हैं। कोई व्यक्ति मन्त्रों का पाठ करता है तो उसे मन्त्रों का स्मरण किसी न किसी आशा से ही उद्दीप्त होता है। किसी न किसी आशा के ही ऊपर निर्भर करके कर्म करता है, मेरे पुत्र होंगे, तो मुझे सुख देंगे, मेरी वंश परम्परा अक्षुण्य बनी रहेगी। पितरों को पिंड तथा तर्पण का जल मिलता रहेगा। पशु होंगे तो दूध मिलेगा, कृषि के कार्यों में वृषभ आदि का उपयोग होगा। किसी न किसी आशा को ही लेकर पुरुष पुत्र तथा पशुओं आदि की इच्छा करता है। चाहे इस लोक की हो अथवा परलोक की।

समस्त कामनाओं का मूलाधार आशा ही है। अतः आशा स्मरण से भी श्रेष्ठ है तुम आशा को ब्रह्म मानकर उसकी ब्रह्म भाव से उपासना करो।"

नारदजी ने पूछा—"जो साधक आशा की ब्रह्मभाव से उपासना करते हैं। उसका फल क्या होता है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"आशा कि ब्रह्मभाव से उपासना करने वाले की समस्त कामनायें आशा द्वारा समृद्ध होती हैं। वह जिस आशा से जो भी प्रार्थना करता है वह प्रार्थना सफल होती है। आशा की जहाँ तक गति है वहाँ तक उसकी स्वेच्छा गति हो जाती है।"

इस पर नारदजी ने पूछा—"भगवन्! आशा से भी उत्कृष्ट कुछ है क्या?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"हाँ, है क्यों नहीं। आशा से भी बढ़कर कुछ है ही।"

तब नारदजी ने कहा—"भगवन्! जो आशा से भी बढ़कर हो, उसी का उपदेश मुझे दीजिये।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"नारद! आशा से भी अत्युत्कृष्ट प्राण हैं?"

नारदजी ने पूछा—"प्राण आशा से उत्कृष्ट कैसे हैं?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"प्राण के बिना किसी का अस्तित्व नहीं। समस्त सम्बन्ध प्राण से ही हैं। जहाँ प्राण शरीर से पृथक हुए कि सभी सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् प्राणों के द्वारा उसी प्रकार समर्पित है जिस प्रकार रथ के पहिये की बीच की नाभि में उसके सभी अरे समर्पित हैं। यह जो प्राण है यही प्राणों के द्वारा गमन करता है। प्राणवान् प्राणी जो भी कुछ देगा प्राणवान् प्राणी को ही तो देगा। जो भी कुछ वस्तु दी

जाती है वह केवल प्राण के ही निमित्त दी जाती है। पिता तभी तक है जब तक उसके शरीर में प्राण हैं। प्राण निकल जाने पर वह पिता न रहकर केवल शव रह जाता है, जो पुत्र प्राण रहते पिता की पूजा करता था, वही प्राणों के त्याग करने पर पिता के शव को अग्नि में जला देता है, अपने हाथों से उसकी कपाल क्रिया करता है।"

माता के शरीर में जब तक प्राण है तब तक वह ममतामयी माता है, उसके प्राण त्यागने के अनन्तर समस्त पुत्र उसे शीघ्र से शीघ्र श्मशान में ले जाकर जला आते हैं। अतः माता शरीर नहीं थी प्राण ही माता हैं। इसी प्रकार भाई, बहिन, आचार्य तथा समस्त सगे सम्बन्धी प्राण ही हैं। जो ब्राह्मण इतना पूज्य पावन माना जाता है, वह प्राणों के ही कारण, प्राण पृथक् हो जाने पर फिर वह अस्पर्श—मृतक शरीर-शव-हो जाता है।

शरीर में प्राण रहते हुए कोई अपने पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य अथवा विप्र को कोई अनुचित बात भी कह देता है, तो दूसरे लोग उसे धिक्कारते हैं। उससे कहते हैं—सगे सम्बन्धी को अपमान सूचक अनुचित बचन कहना मानों उनका एक प्रकार से वध ही करना है। पिता को कठोर वचन कहने वाले को लोग कहते हैं, तू तो पिता का हनन करने वाला है। माता को अपशब्द कहने वाले को मातृघाती, भाई को अपमान जनक बचन बोलने वाले को भ्रातृहन्ता, बहिन को अनुचित्त बात कहने वाले को भगिनीहन्ता तथा आचार्य का अपमान करने वाले को गुरुघाती, तथा ब्राह्मण को अपशब्द कहने वाले को ब्रह्मघाती कहते हैं। क्यों कहते हैं? इसलिये कि शरीर में प्राण रहते हुए तुमने इनसे न कहने योग्य बातें कह दीं। यदि शरीर से प्राण पृथक् हो जायँ, तब उस मृतक शरीर को पुत्र अग्नि

में जला दे, जल में प्रवाहित कर दे भूमि में गाड़ दे, या काट-काटकर पशु पक्षियों को खिला दे, फिर उसे कोई भी मातृ-पितृ-हन्ता नहीं कहते। इससे यही सिद्ध हुआ कि मान, अपमान, सगा सम्बन्धी पन सब प्राणों पर ही अवलम्बित है। प्राण रहते ही लोग स्वागत सम्मान करते हैं, सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जहाँ देह से प्राण पृथक् हुए नहीं कि सब सम्बन्ध समाप्त हो गये। इसलिये नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, तथा आशा इन सब से प्राण ही उत्कृष्ट हैं। जितने सम्बन्ध हैं सब प्राणों पर निर्भर हैं जो इस प्रकार देखता है, चिन्तन करता है तथा जानता है, वह अतिवादी है अर्थात् नामादि सब का अतिक्रमण करता है। उस प्राणोपासक से कोई कहे कि—"तू तो अतिवादी है।" तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिये कि हाँ मैं अतिवादी हूँ। उसे इस बात को छिपाना नहीं चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारदजी यह सुनकर चुप हो गये। उन्होंने समझा प्राण ही सबके उत्कृष्ट हैं। प्राणों से परे कुछ भी नहीं है, अतः उन्होंने पुनः सनत्कुमार जी से यह प्रश्न नहीं किया कि, क्या प्राणों से भी कोई बढ़कर है?"

जब नारदजी ने आगे प्रश्न करना बन्दकर दिया, तब करुणा के सागर श्री सनत्कुमार जी ने स्वयं ही सत्य की महिमा का निरूपण किया। अब जैसे सनत्कुमार जी नारद को सत्य की महिमा बतावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सब इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करें।

छप्पय

आकाश हु तैं स्मरण स्मरणतैं आशा उत्तम।
आशा तैं बड़ प्राण प्राण में जग सबःसत्तम॥
माँ, पितु, द्विज सब प्राण कदाचारी गुरुघाती।
प्राणहीन तन दग्ध करें न कहें पितुघाती॥
प्राण सबहिँ तैं श्रेष्ठ हैं, जो सोचें देखें गुनें।
अतिवादी ताकूँ कहैं, अतिवादी स्वीकृति सुनें॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में दशम, एकादश, द्वादश, तृयोदश, चतुर्दश तथा खण्ड समाप्त।

नारद सनत्कुमार सम्वाद (४)

[१६१]

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ❀॥

(छां० उ० ७ अ० १६ खं० १ मं०)

छप्पय

जिज्ञासा करि सत्य सत्य विज्ञानाधारित।
मति जिज्ञासा योग्य सोउ श्रद्धा आधारित॥
श्रद्धा निष्ठा माहिँ सु निष्ठा कृति अधीन है।
कृति सुख पै अविलम्ब सुखहु भूमा अदीन है॥
श्रवण, ज्ञान, दर्शन न कछु, भूमा सो अम्मृत कह्यो।
श्रवण ज्ञान दर्शन जहाँ, अल्प वही मर्त्यहि कह्यो॥

सत्य उसे कहते हैं जो त्रिकालावाधित हो, जिसका कभी नाश न हो, जिसकी कभी उत्पत्ति न हो। जो सदा सर्वदा

❀ जो सत्य के कारण अतिवदन करता है। वही मानो अतिवदन करता है। इस पर नारदजी ने कहा—"मैं तो परमार्थ सत्य आत्मा के विज्ञान के कारण ही अतिवदन करता हूँ।" सनत्कुमार जी ने कहा—"सत्य है सत्य ही की तो जिज्ञासा करनी चाहिये।" नारदजी ने कहा—"भगवन्! मैं तो सत्य ही की जिज्ञासा करता हूँ।"

सभी विकारों से सभी सम्बन्धों से रहित, एक रस रहने वाला हो। उसे सत्य कहो ब्रह्म कहो, चैतन्य कहो आनन्द घन कहो। सब एक ही बात है। उपनिषद् सत्य ब्रह्म का ही निरूपण करती है। सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म। वह सत्य स्वरूप ज्ञान स्वरूप है उसका कहीं भी अन्त नहीं। वह बृहत् है सर्वत्र व्याप्त है। जो सर्वज्ञ है सर्ववित् है। जिसका तप ज्ञानमय है। वह सब का वशी है। सब कुछ उसी के वश में है। वह सब का स्वामी है। जो पृथ्वी में रहता हुआ तदनन्तर कामना करता है। मैं एक से बहुत हो जाऊँ। जो आप्त काम हैं, जो परिपूर्ण हैं उन्हें कामना करने की क्या आवश्यकता थी ? जो वस्तु जिसके पास नहीं होती, वही उस वस्तु की कामना करता है। ब्रह्म तो परिपूर्ण हैं, सभी कामनाओं से रहित है। उसने कामना क्यों की ?

देखो, भाई ! जो सर्वस्वतन्त्र है, उसके लिये तुम क्यों का प्रश्न मत करो। उसकी कामना भी अकामना ही है। क्रीड़ा के लिये, लीला के लिये, विनोद के लिये ही उसकी अकामना के सदृश कामना है। अतः उन्होंने तेज की सृष्टि की। वह भूमा पुरुष ही सत्य रूप से प्रतिष्ठित हो गया। वह प्राण बनकर प्राणन कर्म करने लगा। संसार की सृष्टि करने में समर्थ हुआ। उस सत्य की ही जिज्ञासा करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण, तथा आशा इनको एक से एक श्रेष्ठ बताते हुए जब सनत्कुमार जी ने प्राण को सर्वश्रेष्ठ बताया। सबको अतिक्रमण करके प्राण पर ही जाकर परि समाप्ति कर दी और प्राणवेत्ता को ही

अतिवादी बताया, तब नारदजी चुप हो गये, फिर उन्होंने यह जिज्ञासा नहीं की कि प्राण से भी कोई श्रेष्ठ है क्या ?"

तब परम कृपालु गुरुदेव भगवान् सनत्कुमार ने सोचा—"मेरा प्रिय शिष्य प्राणवेत्ता ही रह गया, ब्रह्मवेत्ता नहीं हुआ तो मेरा सब उपदेश व्यर्थ ही हो जायगा। अतः नारदजी के न पूछने पर भी वे अपनी ही ओर से कहने लगे—"हे नारद ! प्राणवेत्ता तो अतिवादी—सबका उत्क्रमण करके प्राण को ही श्रेष्ठ समझने वाला—होता ही है, किन्तु प्राणवेत्ता से अतिवादी वह है जो सत्यवेत्ता है। जो आत्मा विज्ञान को जानता है, जो परमार्थ सत्य को पहिचानता है, वास्तव में तो वही अतिवादी। वही सर्वश्रेष्ठ विज्ञाता है। उस सत्य विज्ञान की ही जिज्ञासा करनी चाहिये जो प्राण से भी श्रेष्ठ है।"

नारदजी ने कहा—"भगवन् ! मैं तो उसी सर्वश्रेष्ठ तत्व सत्य विज्ञान का ही जिज्ञासु हूँ। मैं उसी का अतिवदन करता हूँ। यदि प्राण से भी उत्कृष्ट सत्य है, तो मेरी जिज्ञासा तो विशेष रूप से सत्य की ही है। उस सत्य का ही मुझे उपदेश करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"विज्ञान के द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार होता है।"

नारदजी ने कहा—"सो कैसे ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"विज्ञान के द्वारा जब उसे सत्य के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जायगा, तभी तो वह सत्य बोल सकता हैं, सत्य का विज्ञान हुए बिना कोई सत्य कैसे बोल सकेगा। जो विज्ञाता है वही विशेष रूप से सत्य का कथन करता है। अतः सत्य को जानने के लिये विज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"यदि विज्ञान द्वारा ही सत्य का साक्षात्-कार होता है, तो भगवन्! मैं विज्ञान का ही जिज्ञासु हूँ, विज्ञान को विशेष रूप से जानना चाहता हूँ। मुझे विज्ञान का ही उपदेश करें।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"विज्ञान का तो हमने नाम वाणी आदि क्रम में उल्लेख किया है, वहाँ क्रम परम्परा में विज्ञान से अभिप्राय शास्त्रज्ञान से है, यहाँ विज्ञान का तात्पर्य विशिष्ट ज्ञान से है। शास्त्रों को पढ़कर उनका एकाग्र चित्त होकर विशेष रूप से जब मनन करता है, तभी वह विज्ञानी बनता है। बिना स्थिर चित्त से मनन किये कोई विज्ञानी बन ही नहीं सकता। विशेष मनन द्वारा ही सत्य का साक्षात्कार होता है। जब तक सु-मति न होगी तब तक विज्ञानी नहीं हो सकता। अतः विज्ञानी बनने के लिये मति का आश्रय लेना चाहिये। मति को विशेष रूप से जान लेना चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"सत्य की उपलब्धि यदि विज्ञान से होती है और विशेष ज्ञान मनन द्वारा सु-मति से ही सम्भव है, तो मैं मति के विज्ञान का जिज्ञासु हुँ। मुझे मति विज्ञान का ही उपदेश करें।"

सनतकुमार जी ने कहा—"देखो, भैया! परमार्थ में मति भाग्य शालियों की ही होती है। जो श्रद्धावान् है, उसी की पर-मार्थ में मति होती है। जब हृदय में श्रद्धा जाग्रत होगी तभी सुमति होगी। तभी पढ़े लिखे शास्त्रों के मनन करने की प्रवृत्ति जाग्रत होगी। श्रद्धा के बिना मनन सम्भव नहीं। इसलिये सुमति होने के लिये श्रद्धा का आश्रय लेना चाहिये। श्रद्धा की विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"मति यदि श्रद्धा के बिना संभव नहीं

और मति के बिना विज्ञाता होना संभव नहीं और विज्ञान के बिना सत्य का साक्षात्कार संभव नहीं, तो भगवन्! मुझे श्रद्धा के ही विज्ञान का उपदेश करें। श्रद्धा कैसे हो यह बतावें।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"श्रद्धा निष्ठा के बिना नहीं होती।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! निष्ठा क्या?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जिसमें अपनी दृढ़ता हो जाय, उसी का नाम निष्ठा है। (नितरां तिष्ठति=इति-निष्ठा) जिसकी जिस वस्तु में निष्ठा जम जायगी, उसमें श्रद्धा होगी। आज एक देवता का मन्त्र जपा कल उसे छोड़कर दूसरे का जपने लगे परसों तीसरे का जपने लगे। ऐसे अस्थिर चित्त निष्ठा विहीन पुरुषों को कभी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। नैष्ठिक भाव रखकर एक में श्रद्धा बढ़ानी चाहिये। इसीलिये सनत्कुमार जी ने कहा—"जब पुरुष की किसी विषय में निष्ठा जम जाती है तभी वह उस विषय में श्रद्धा करता है। निष्ठा के बिना श्रद्धा हो ही नहीं सकती। निष्ठावान् ही श्रद्धावान् होता है। अतः निष्ठा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये।"

यह सुनकर नारदजी ने कहा—"भगवन ब्रह्म साक्षात्कार विज्ञान के बिना नहीं हो सकता। विज्ञान बिना मति के नहीं होता। मति श्रद्धा के बिना नहीं होती। श्रद्धा निष्ठा के बिना नहीं होती। श्रद्धा निष्ठा के बिना संभव नहीं। तो मुझे निष्ठा का ही उपदेश दें, मैं निष्ठा को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूँ।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"देखो, भैया! गुरुजनों में विश्वास करके उनके प्रति प्रणिपात-नमस्कार प्रणाम करके—

नम्रता पूर्वक परिप्रश्न करना उनकी सेवा सुश्रूषा करना यही निष्ठा का चिन्ह है, निष्ठा होती है कृति से।"

नारदजी ने पूछा—"कृति क्या ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"कृति अर्थात् क्रिया—कर्तृ व्यापार जब मनुष्य कुछ व्यापार करता है, उसी समय उसमें निष्ठा भी करने लगता है। आप सोचें, कि हम करें तो कुछ भी नहीं, हमारी निष्ठा हो जाय, तो यह असम्भव है। बिना किये हुए किसी की भी निष्ठा होती ही नहीं है। जब कुछ कार्य करेगा—किसी कर्म में प्रवृत्त होगा तभी निष्ठावान होगा। अतः कृति को ही विशेष रूप से जानना चाहिये। कृति के ही निमित्त साधकों को विशेष रूप से जिज्ञासु होना चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्म साक्षात्कार विज्ञान के बिना नहीं। विज्ञान मति के बिना नहीं, मति श्रद्धा के बिना नहीं, श्रद्धा निष्ठा के बिना नहीं, निष्ठा कृति के बिना नहीं हो सकती, तो आप मुझे कृपा करके कृति का ही उपदेश करें। मैं कृति की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ।"

सनत्कुमार जी ने कहा—"क्रिया तभी की जाती है जब उसे करने में सुख हो, या सुख प्राप्ति की आशा हो। जिस क्रिया के करने में सुख न हो अथवा सुख प्राप्ति की आशा न हो, उस क्रिया को मनुष्य करेगा ही नहीं। बिना सुख मिले या मिलने की आशा नष्ट होने पर कोई क्रिया करेगा नहीं। सुख पाकर या सुख की आशा से ही कर्म किये जाते हैं। अतः सुख कृति की जननी है। सुख पाने की आशा से ही क्रिया—कर्तृ व्यापार—में प्रवृत्ति होती है। अतः साधक को सुख की जिज्ञासा करनी चाहिये।"

नारदजी ने कहा—"सुख की आशा से कर्म करने में प्रवृत्ति

होती है, कृति निष्ठा के बिना नहीं। निष्ठा श्रद्धा के बिना नहीं, श्रद्धा मति के बिना नहीं। मति विज्ञान के बिना नहीं, विज्ञान के बिना सत्य का साक्षात्कार नहीं। इन सब में प्रवृत्त कराने वाला सुख ही है, अतः मुझे सुख के ही सम्बन्ध में बताइये। सुख का ही उपदेश करें।"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"यथार्थ सुख तो भूमा में ही है।"

नारदजी कहा—"भूमा क्या ?"

इस पर सनत्कुमार जी ने कहा—"जो अतिशय बड़ा हो, सुख अपार, अगाध, अखंड, अनन्त में है। मछली को अल्प जल में छोड़ दो तो सुखी न होगी। उसे अगाध जल में छोड़ दो तो सुखी हो जायगी। अतः इससे यही सिद्ध हुआ कि भूमा ही सुख स्वरूप है। भूमा में ही सुख है। अल्प में कभी सुख नहीं। भूख लगने पर एक दो ग्रास कोई खाय तो सुखी न होगा। यथेष्ठ भोजन से ही परितृप्ति होगी सुखानुभूति होगी। इसलिये जिज्ञासा योग्य भूमा ही है।"

नारदजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! भूमा ही सुख स्वरूप है, तो उस भूमा पुरुष का ही मुझे उपदेश करें, मैं उस भूमा पुरुष की ही विशेषरूप से जिज्ञासा करता हूँ। उस भूमा पुरुष का ही स्वरूप मुझे समझाइये।"

यह सुनकर सनत्कुमार जी ने कहा—"नारद ! भूमा अगाध अपार, अनन्त, सर्वव्यापक को कहते हैं। जैसे मछली अनन्त अगाध समुद्र में जाकर जल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखती। उसी प्रकार जहाँ जाकर जीव उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखता, उसके शब्द के अतिरिक्त अन्य कोई शब्द

नहीं सुनता, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानता, वही भूमा है। उसी में सुख है, वही सुख स्वरूप भूमा पुरुष है।"

नारदजी ने कहा—"यदि उसके अतिरिक्त कुछ और भी देखा सुना जाना जाय वह क्या है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"उसके अतिरिक्त जहाँ कुछ और सुना जाय, और कुछ जाना जाय, और कुछ देखा जाय, वह भूमा न होकर अल्प है। अल्प सुख,सुख नहीं होता, सुख भूमा में ही होता है। अमृत तो भूमा ही है, जो अल्प है, अंश है, वह मर्त्य है, नाशवान् है। अतः भूमा जिसमें प्रतिष्ठित रहता है उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये।"

नारदजी ने पूछा—"वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"भूमा से कोई बड़ा हो तब तो बताया भी जा सकता है, कि भूमा अमुक में प्रतिष्ठित है। वह तो स्वयं ही इतना अनादि अनन्त तथा बृहद् है, कि वह अन्य किसी में भी प्रतिष्ठित नहीं। वह अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित है।"

नारदजी ने पूछा—"महिमा क्या ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"महिमा अर्थात् विभूति। वह अपनी ही विभूति में प्रतिष्ठित है।"

नारदजी ने कहा—"उस भूमा पुरुष की महिमा–विभूति–कितनी बड़ी होगी ? उस भूमा पुरुष से तो बड़ी ही होगी, क्योंकि वह उसमें प्रतिष्ठित है।"

यह सुनकर सनत्कुमार जी हँस पड़े। और बोले—"उसकी महिमा उससे भिन्न नहीं कहना चाहिये। वह अन्य किसी में प्रतिष्ठित नहीं। महिमा को उससे पृथक् मानते हो, तो हम तो

कहेंगे, कि वह किसी अन्य में प्रतिष्ठित नहीं अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं।"

नारदजी ने कहा—"भगवन्! यह क्या बात हुई, पहिले तो आपने कहा भूमा अपनी महिमा में–विभूति में–प्रतिष्ठित है पीछे कह दिया अपनी विभूति में भी प्रतिष्ठित नहीं।"

यह सुनकर सनत्कुमारजी ने कहा—"देखो, लोक में महिमा शब्द से गौ, घोड़ा, हाथी तथा अन्य उपयोगी पशुओं की, सुवर्ण, चाँदी आदि मूल्यवान् धातुओं की, सेवा करने वाले दास-दासियों की, गृहलक्ष्मी भार्या की, जीवनोपयोगी खेती बारी घर बैठक चौपाल आदि की गणना की जाती है। जिस महामहिम पुरुष की ये विपुल मात्रा में वस्तुएँ होती हैं, वह महिमावान् कहलाता है। यहाँ पर पशु, धन आदि भिन्न हैं, जिसके ये सब हैं, जिसमें ये प्रतिष्ठित हैं, वह पुरुष भिन्न है। सिद्धान्त यह हुआ कि अन्य पदार्थ किसी अन्य में प्रतिष्ठित हुआ करता है। जब उस भूमा पुरुष की महिमा उससे भिन्न नहीं, तब यह कैसे कहा जा सकता है, कि वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है, उसकी महिमा तो उससे अभिन्न है। यदि उसकी महिमा उससे भिन्न होती तो एक स्थान में वह रहता, किसी दूसरे स्थान में उसकी महिमा रहती तब वह महिमा में प्रतिष्ठित माना जाता, किन्तु वह तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को घेरकर बैठा है, महिमा आदि के लिये कोई स्थान उसने छोड़ा ही नहीं। नहीं समझे?"

सनत्कुमार ने जब ऐसा कहा—तब नारदजी ने पूछा—"तो वह कहीं प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा निषेध वचन उसके लिये क्यों कहा जाता है?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"इस बात को बता तो चुके हैं, कि वह एक स्थान में न रहकर सर्वत्र है। वह नीचे भी है और ऊपर

भी है। वह आगे भी है और पीछे भी है, वह दायीं ओर भी है, बायीं ओर भी है, वहीं यह सब है जो कुछ देखा सुना अनुभव किया जाता है।"

नारदजी ने कहा - "वह है, कहने से कहने वाला पृथक् हुआ और जिसको निर्देश करके कथन किया जाता है, वह कोई दूसरा होगा ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"उसे चाहें वह कहो 'मैं' कहो, वही, वही है। द्वित्वपने की तो वहाँ गन्ध भी नहीं। वह है के स्थान में आप मैं हूँ भी कह सकते हैं। उसमें आप अहङ्कार का आदेश—उपदेश-शासन कार्य भेद करके यों भी कह सकते हैं, कि मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और मैं ही सब हूँ। उसे चाहे वह कहो या मैं कहो एक ही बात है। यहाँ उसका और मैं का आग्रह नहीं चाहे तदेव सत्यं कहो चाहे अहमेव सत्यं कहो। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं। अहं शब्द भी आत्मा का—ब्रह्म का—ही वाचक है। जो अविवेकी पुरुष हैं वे ही अहं शब्द से शरीर को मानते हैं। अतः वह तथा अहं से न कहकर उसे आत्मा द्वारा भी उपदिष्ट किया जाता है।"

नारदजी ने कहा—"आत्मा द्वारा आदेश कैसे किया जाताहै ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"आत्मारूप में भी वैसे ही उपदेश किया है। जैसे 'वह' और मैं से किया गया। आत्मा रूप में यों कहो—आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही आगे है आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है, यह सब जो भी देखा सुना मनन किया जा सकता है। सब आत्मा ही आत्मा है।"

नारदजी ने पूछा—"जो साधक सब में सर्वत्र आत्मा को ही

देखता है, उसी का मनन करता है, उसे ही सर्वत्र जानता है, उसकी क्या गति होती है ?"

सनत्कुमार जी ने कहा—"सर्वत्र आत्मा को देखने वाला, आत्मा को ही मनन करने वाला, आत्मा को ही जानने वाला जो साधक होता है, वह आत्मरति, आत्मा क्रीड़ा आत्म मिथुन, आत्मानंद होता है। वह स्वराट् होता है। सम्पूर्ण लोकों में सर्वत्र उसकी अव्याहत यथेच्छ गति होती है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आत्मरति किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जिस अन्तःकरण की वृत्ति से रमण किया जाता है, उसे रति कहते हैं-(रम्यते अनया—इति रतिः) रति कामदेव की स्त्री का भी नाम है। रति अनुराग का नाम है। अनुराग अपने से भिन्न में हुआ करता है, किन्तु जो आत्मा को सर्वत्र देखता है उसे अनुराग करने को किसी दूसरे की आवश्यकता नहीं होती, वह अपने से अपनी आत्मा में ही अनुराग का अनुभव करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"आत्मक्रीड किसे कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! लोक में जो क्रीडा होती है, वह अन्य उपकरणों के बिना नहीं होती। बच्चे जब क्रीडा करते हैं, तो कई मिल जुल कर करते हैं। खेलने को उन्हें गेंद, बल्ला, गुल्ली, डंडा, गुड्डा, गुड़िया, मिट्टी आदि उपकरण चाहिये। किन्तु जो आत्मा को सर्वत्र जानता मानता है, वह बिना किसी उपकरण के ही क्रीड़ा सुख का अनुभव करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"आत्ममिथुन क्या ?"

सूतजी ने कहा—"संसार में जो मैथुन सुख सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, वह दो के बिना संभव नहीं। किन्तु जो आत्मा को सर्वत्र जानता मानता है, वह आत्मा में ही एकाकी मैथुन सुख का

अनुभूति करता है। उसे मिथुन होने के लिये दूसरे की आवश्यकता नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"आत्मानन्द किसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"रमण-आनन्दानुभव एकाकी नहीं होता। हम कोई मधुर वस्तु खाते हैं, कहते हैं, इसे खाने से बड़ा आनंद आया, इसे सूँघने से आनन्द आया, इसे देखने से आनन्द आया, इस संगीत के सुनने से आनन्द आया, इसके स्पर्श से आनन्द आया। अर्थात् आनन्दोत्पादन के लिये उपकरण चाहिये। किन्तु आत्मा को सर्वत्र देखने वाला अपनी आत्मा में ही आनन्द की अनुभूति करता है।

शौनकजी ने पूछा—"स्वराट् का तात्पर्य क्या है?"

सूतजी ने कहा—"जो अपनी ही महिमा में सदा प्रकाशित रहता है, जिसे दूसरों की अपेक्षा नहीं (स्वेन राजते=इति=स्वराट्) उसके लिये न कोई विधि रहती है न निषेध। वह विधि निषेध से परे हो जाता है। उसकी सर्वत्र सब लोकों में अप्रतिहत गति हो जाती है। क्योंकि भूमा विराट् में ही सुख है, अल्प में सुख नहीं।"

नारदजी ने पूछा—"जो भूमा को नहीं जानते उनकी क्या गति होती है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"वे स्वराट् नहीं हो सकते। उनके ऊपर शासन करने वाला कोई दूसरा ही होता है। वे अपने से भिन्न किसी दूसरे द्वारा शासित होते रहते हैं। उन्हें अक्षय लोक की प्राप्ति भी संभव नहीं। मरने पर उन्हें क्षयिष्णु लोकों की प्राप्ति होती है, जिनमें से पुण्य क्षीण हो जाने पर ढकेल दिये जाते हैं, फिर-फिर पृथ्वी पर जन्म लेते रहते हैं। उनकी गति प्रतिहत होती है स्वेच्छानुसार सभी लोकों में जा नहीं सकते।"

नारदजी ने पूछा—"इस आत्मोपासना का फल क्या है ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"आत्मोपासना का फल आत्मा ही है। जैसे पैसा से पैसा पैदा होता है, उस पैसे द्वारा ही समस्त संसारी सुखों के उपकरण प्राप्त किये जा सकते हैं। इसी प्रकार जो आत्मा की उपासना करता है, सर्वत्र एकमात्र आत्मा को ही देखता है, आत्मा का ही मनन करता है आत्मा को ही सर्वत्र जानता है, उसे आत्मा से ही सबकी उपलब्धि हो जाती है। वह आत्मा से ही प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक् नाम, मन्त्र, कर्म और आत्मा से ही यह सब हो जाता है। आत्मवेत्ता को अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं रहती।"

नारदजी ने पूछा—"भगवन् ! आत्मवेत्ता को शारीरिक दुःख-सुख का तो कुछ अनुभव होता ही होगा ?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"नारद ! तुम कैसी बात कर रहे हो। इतना कहने पर भी तुमको ज्ञान नहीं हुआ ? अरे, भैया ! भगवती श्रुति कहती है। आत्मवेत्ता आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी को देखता ही नहीं। वह मृत्यु, रोग, दुःखादि किसी को भी नहीं देखता वह तो समस्त चराचर ब्रह्माण्ड में केवल एक मात्र आत्मा को ही देखता है। वह सबको प्राप्त हो जाता है, वह एक-मात्र आत्मस्वरूप तो है ही वही तीनों गुण बन जाता है, वही पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्रायें, पंचभूत बन जाता है, वही प्रकृति, पुरुष और पाँच प्राण मिलकर सात हो जाता है, वह ही पाँच तन्मात्रायें और अन्तःकरण चतुष्टय होकर नौ हो जाता है, वही दश इन्द्रियाँ और एक मन इस प्रकार ग्यारह प्रकार का हो जाता है, वह ही वृत्तियों के रूप में शत सहस्र बन

जाता है। वही पंचभूत दश इन्द्रियाँ तथा पंच प्राण मिलकर बीस बन जाता है। कहाँ तक गिनावें। अनेक रूपों में वही आत्मा सर्वत्र व्याप्त है। यह समस्त प्रपञ्च उसी आत्मा का पसारा है।"

नारदजी ने कहा--"भगवन्! आपने स्मृति पर अत्यधिक बल दिया था, सब आत्मा ही आत्मा तो था, आत्मा ही है आत्मा ही रहेगा। जीव आत्मविस्मृत होने से अज्ञानी बन गया है। पूर्वस्मृति जाग्रत होने से निश्चल स्मृति होती है। वह निश्चल स्मृति कैसे हो?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"विशुद्ध अन्तःकरण पर आहार आदि की अशुद्धि के कारण अज्ञान का परदा पड़ गया है। अशुद्ध अन्न खाने से उसके सूक्ष्मांश से मन भी अशुद्ध हो गया है। दूषित अन्न से अन्तःकरण अशुद्ध बन गया है। उस अशुद्ध अन्तःकरण की शुद्धि आहार शुद्धि से–विषय उपलब्धि रूप विज्ञान की शुद्धि से–करनी चाहिये। आहार शुद्धि से जब अन्तःकरण विशुद्ध बन जायगा, तभी जाकर निश्चल स्मृति होगी।"

नारदजी ने पूछा—"निश्चल स्मृति हो जाने पर क्या होता है?"

सनत्कुमारजी ने कहा—"निश्चल स्मृति की प्राप्ति होने पर ये जो हृदय में अज्ञान की ग्रन्थियाँ पड़ गयी हैं, जिनसे अन्तःकरण संशयालु बन गया है, वे सब ग्रन्थियाँ अपने आप खुल जाती हैं। फिर अज्ञान भाग जाता है, सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं। यह स्मृति प्राप्त होने का फल है।"

सनत्कुमारजी ने पूछा—"कहो, नारद! तुम्हारे सब संशय निवृत्त हुए या नहीं?"

नारदजी ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए नम्रता के साथ कहा—

"भगवन्! आप की कृपा से मेरे समस्त संशय मिट गये। मैं कृतार्थ हो गया। मैं अज्ञान अन्धकार रूप जो अगाध अपार सागर है, उससे पार हो गया।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो! इस प्रकार सनत्कुमार-जी के उपदेश से जिन नारदजी की समस्त वासनाएँ नाश हो गयी हैं ऐसे क्षीणवासना वाले नारदजी को सदुपदेश करके भगवान् सनत्कुमारजी ने अज्ञानान्धकार रूप अपार सागर का पार दिखा दिया। अर्थात् उन्हें अज्ञानान्धकार के पार पहुँचाकर ज्ञानालोक को प्राप्त करा दिया।"

इस प्रकार यह मैंने छांदोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में सनत्कुमार नारद सन्वाद आप सबको सुनाया अब अष्टम अध्याय में जैसे दहर ब्रह्म की उपासना बतायी जायगी उसका वर्णन मैं आप से आगे करूँगा।

छप्पय

(१)

भूमा महिमा माहिँ प्रतिष्ठित नहिँ सो महिमा।
हय, गो घर, करि, स्वर्ण दास दारा हू महिमा॥
जग के सकल पदार्थ अन्यमें सबहिँ प्रतिष्ठित।
भूमा है सरवत्र अहंता में आदेशित॥
भूमा आत्मा प्राण है, आशा स्मृति आकाश जल।
आत्मा तैं ही तेज है, आविरभावहु अन्न बल॥

(२)

आत्मा तैं विज्ञान, ध्यान, चित, मन, वाणी सब ।
आत्मा तैं संकल्प नाम कर्मादि मन्त्र सब ॥
आत्म रूप ही लखैं विज्ञ देखें न मृत्यु रुज ।
एक रूप लखि होहिँ बहुत जग की द्विविधा तज ॥
आहार हु की शुद्धि तैं, शुद्ध होहि अन्तःकरन ।
तब इस्मृति हिय ग्रन्थि खुलि, करै आत्म ज्ञानहिँ बरन ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद के सप्तम अध्याय में सोलह, सत्रह, अठारह, उन्नीस, बीस, इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस, पच्चीस तथा छब्बीस खण्ड समाप्त ।

सातवां अध्याय समाप्त ।

छान्दोग्य–उपनिषद् अष्टम अध्याय

दहरपुण्डरीक में–दहर ब्रह्म की उपासना

[१६२]

हरिः ॐ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।।*

(छां० उ० ८ अ० १ ख० १ मं०)

छप्पय

तन हिय कमलाकार सूक्ष्म आकाश अवस्थित ।
तामें जो यह बसै शिष्य तिहि गुरु तें पूछत ।।
हृदयाकाश महान अग्नि, रवि, शशि तहँ वायू ।
बिजुरी अरु नछत्र सबहि जग सो परमायू ।।
सत्य ब्रह्मपुर आतमा, मृत्यु शोक क्षुत दुख रहित ।
सत् संकल्पहु सकल जग–भोग कामना के सहित ।।

---

* यह जो ब्रह्मपुर–मानवदेह–है इसमें सूक्ष्म कमल की भाँति जो सूक्ष्म आकाशरूप घर है । उस घर के भीतर जो भी कुछ पदार्थ है उसी की खोज करनी चाहिये और उसी की विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये ।

बहुत ऊँचे पहाड़ों पर जहाँ हिमपात होता है, वहाँ एक छोटा-सा कस्तूरी मृग होता है। उसकी नाभि में एक गुठली-सी होती है, उसमें कस्तूरी भरी रहती है। उस कस्तूरी की बहुत ही सुन्दर दिव्य सुगन्ध होती है, उस मृग को यह ज्ञान नहीं होता कि कस्तूरी मेरी नाभि में ही अवस्थित है। जब उसकी सुगन्ध उसके नासिका पुटों में जाती है, तो कहाँ से यह सुगन्ध आ रही है, उसे पाने के लिये चारों ओर दौड़ता ही रहता है। जहाँ जाता है वहीं उसे सुगन्ध का भान होता है, वह समझता है यहीं कहीं पास में ही होगी। अतः गन्ध लोलुप वह मृग चक्कर ही लगाता रहता है। कुछ लोगों का कहना तो यहाँ तक है, कि वह कभी बैठता ही ही नहीं। चक्कर लगाते-लगाते जब थक जाता है, तो किसी वृक्ष के सहारे खड़ा होकर कुछ काल विश्राम कर लेता है, फिर वह सुगन्ध पाने को दौड़ता है, किन्तु यह बात सत्य नहीं। प्रत्यक्ष दर्शियों ने बताया है कस्तूरी मृग बैठता है, सोता है, किन्तु वह घूमता अवश्य रहता है।

कस्तूरी मृग के ही सदृश यह पुरुष भी अज्ञानी ही है। सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय देश में वे परब्रह्म परमात्मा बैठे हुए हैं। प्राणी उन्हें अपने हृदय में न देखकर बद्रीनाथ, केदारनाथ, जगन्नाथ, रामेश्वरनाथ तथा द्वारका आदि दूर देशों में भटकता फिरता है। ईश्वर तो हमारे हृदयकमल की कर्णिका के एक छोटे से छिद्र में बैठे हुए हैं। उस पुरी में आनन्द पूर्वक सोते हुए, सोते-सोते ही इन शरीर रूप पुर की विमान की चाभी घुमाते रहते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से प्राणी समस्त कार्यों को करता है। उस हृदयकमल के दहर में—सूक्ष्म स्थान में—जो देव बैठे हुए हैं उन्हीं का अन्वेषण करना चाहिये। जो लोग श्रद्धा संयम द्वारा गुरु वाक्यों पर विश्वास करके उस हृदय के कमलाकार सूक्ष्म स्थान

में रहने वाले देव को जान लेते हैं, वे जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा के लिये छूट जाते हैं, जो उन्हें नहीं जान पाते वे बार-बार जन्मते और मरते रहते हैं। अतः उसी हृदयस्थ देव का अन्वेषण करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सप्तम अध्याय में भूमा पुरुष की महिमा कही, अब इस अष्टम अध्याय में दहर विद्या बतलाने के निमित्त भगवती श्रुति दहरोपासना का आरम्भ करती है।"

शौनकजी ने पूछा—"दहर क्या है सूतजी!"

सूतजी ने कहा—"दहर का अर्थ है सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी में षट् स्थानों में–गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कण्ठ और भ्रूमध्य में–षट् कमल बताये हैं उसमें जो हृदय स्थान में कमल है उसमें भगवान् बैठे रहते हैं। वहीं जीव का भी बास बताया गया है। उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थान में आकाश के सदृश ब्रह्म विराजमान हैं। अब उसी दहर ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा जायगा।"

भगवती श्रुति कहती है—"यह जो नव द्वार वाला मानव शरीर है, जिसमें ब्रह्म निवास करता है इसे ब्रह्म पुरी कहा गया है। इस ब्रह्म पुरी के भीतर एक हृदय प्रदेश है। वह स्थान पुंडरीक–लाल कमल–के सदृश है। वह अत्यन्त ही सूक्ष्म दहर–गुफा है। उसमें परम सूक्ष्म आकाश है उसके भीतर कोई एक विलक्षण वस्तु है, उसी वस्तु का अन्वेषण करना चाहिये, वह वस्तु क्या है उसी की खोज करनी चाहिये और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुओं के समीप जाकर उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसे जिज्ञासा करें?"

सूतजी ने कहा—"शिष्यों को श्रोत्रिय ब्रह्म निष्ठ गुरु के निकट जाकर नम्रता से पूछना–चाहिये—भगवन्! इस मानव शरीर रूप ब्रह्मपुर में जो हृदय प्रदेश है उस प्रदेश के अति सूक्ष्म

कमलाकार गृह में जो अन्तराकाश है, उसके भीतर कौन-सी वस्तु है। श्रुति का कहना है उसी ही वस्तु की खोज करनी चाहिये और उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये। कृपया उसी का हमें उपदेश दें।"

जब जिज्ञासु सुयोग्य अधिकारी शिष्य प्रपन्न होकर आचार्य की शरण में आकर यह प्रश्न करें, तब कृपालु आचार्य को उन्हें इस प्रकार उत्तर देना चाहिये।

गुरु कहें—"देखो, बच्चो! तुम जो बाह्य आकाश देख रहे हो, वह कितना बड़ा है?"

शिष्यों ने कहा—"आकाश की कोई सीमा नहीं। यह तो निस्सीम है।"

इस पर गुरु पूछें—"इस आकाश में तुम क्या-क्या देखते हो?"

शिष्य कहें—"भगवन्! आकाश में द्युलोक अर्थात् स्वर्गलोक से लेकर पृथ्वीलोक पर्यन्त सभी लोक अवस्थित हैं। इसी आकाश के अन्तर्गत अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, नक्षत्र सभी अवस्थित हैं। कहाँ तक नाम गिनावें, आत्मा का जो भी कुछ इस लोक में है और जो नहीं भी है वह सब इसी में स्थित है।"

इस पर गुरु कहें—"तो देखो, शिष्यगण! जितना बड़ा यह भौतिक आकाश है उतना ही बड़ा हृदयान्तर्गत आकाश है। जो आकाश में वस्तुएँ स्थित हैं, वे ही सब हृदयान्तर्गत आकाश में भी स्थित हैं। जो पिण्ड में है वही सब ब्रह्माण्ड में भी है।"

इस पर शिष्यों को शीघ्र ही यह शंका करनी चाहिये, कि यह शरीर ब्रह्मपुर है, और इसके भीतर हृदयाकाश में पृथ्वीलोक-स्वर्गलोक, सूर्य-चन्द्र, विद्युत्-नक्षत्रादि समस्त पदार्थ स्थित हैं, सम्पूर्ण भूत तथा समस्त कामनायें भी इसमें स्थित हैं; तो जिस

समय यह शरीर वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उस समय ये सब वस्तुएँ कहाँ चली जाती हैं। ये सब भी शरीर के साथ नष्ट हो जाती हैं, अथवा किसी अन्य स्थान में सुरक्षित रह जाती हैं ?"

इसका आचार्य को यों उत्तर देना चाहिये—"देखो, भाई ! शरीर के जीर्ण होने पर अथवा मृतक होने पर हृदय प्रदेश में अवस्थित आकाशस्थ परब्रह्म परमात्मा जीर्ण अथवा मृतक नहीं होता। जिस दहर में यह पुरुष शयन करता है, वह सत्य है निर्विकार है इस ब्रह्म के ही पुर में–दहराकाश में संसार भर की समस्त कामनायें सम्यक् प्रकार से अवस्थित हैं। ऐसी कोई भी कामनायें नहीं हैं, जो वहाँ उपस्थित न हों। वह ही आत्मा है। उस समरस निर्द्वंद्व आत्मा में धर्म-अधर्म, जरा–मृत्यु, शोक-मोह, बुभुक्षा–पिपासा ये जो प्राकृत हेय गुण हैं, उनसे रहित है। वह हृदय दहर स्थित परमात्मा सत्यकाम है। अर्थात् वह जो-जो कामनायें करता है, वे सभी कामनायें सत्य हो जाती हैं। जितने भोग्य पदार्थ हैं, जितने भोग के उपकरण हैं, तथा जितने भोग के स्थान हैं, वे सब उसी में सन्निहित हैं। वह सत्य संकल्प है। संसारी लोगों के संकल्प तो प्रायः व्यर्थ ही हो जाते हैं, किन्तु उसका संकल्प अमोघ है जो संकल्प करता है, वह तत्काल सिद्ध हो जाता है। इसलिये उस ब्रह्मपुरवासी सत्य स्वरूप प्राकृत गुणों से रहित, सत्यकाम, सत्य संकल्प परमात्मा की ही जिज्ञासा करनी चाहिये। क्यों करनी चाहिये ? इसलिये कि कर्म साध्य जो पुण्य लोक हैं, उनमें स्वतंत्रता नहीं परतन्त्रता है। किस प्रकार परतन्त्रता है ? इस पर दृष्टान्त सुनो।"

एक देश का कोई राजा है, उसके राज्य के जितने भी प्रजा जन हैं, राजा की आज्ञा के अनुसार ही अनुवर्तन करते हैं। राजा

की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकता। उसे जो भी फल प्राप्त करना हो, जिस भू खंड में भी जाकर आजीविका उपार्जन करनी हो, उसके लिये उन्हें राजा की अनुमति लेनी पड़ती है। राजा की ही कृपा से उसी की आज्ञानुसार उन्हें इच्छित प्रान्त में आजीविकार्थ वृत्ति चलानी पड़ती है, क्योंकि प्रजा स्वतन्त्र नहीं राजा के अधीन है। जो लोक कर्म द्वारा प्राप्त होंगे, उनका कभी न कभी-पुण्य क्षीण होने पर नाश हो ही जायगा। क्योंकि लोक जैसे प्रजा के अधीन है वैसे ही वे कर्मों के अधीन हैं। पुण्य क्षीण हुए कि फिर वे मर्त्यलोक में धकेल दिये जाते हैं।

इसका अभिप्राय इतना ही है, कि कर्मों द्वारा प्राप्त लोक क्षयिष्णु हैं, वे पुण्य के ऊपर निर्भर करते हैं। जिन्होंने अविनाशी, नित्य परिपूर्ण परमात्मा का ज्ञान इसी लोक में प्राप्तकर लिया है, वे सर्वथा स्वतन्त्र हो जाते हैं, कर्म फलों से विमुक्त हो जाते है। वे ऐसे अविनाशी अक्षयिष्णु लोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ से कभी लौटना नहीं पड़ता। जिन्होंने सत्य स्वरूप उन परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वे इन सत्य कामनायुक्त परमात्मा को बिना जाने ही परलोकगामी हो जाते हैं, उनकी गति सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ नहीं होती। यह नहीं कि वे जहाँ चाहें, जिस लोक में चाहें इच्छानुसार चले जायँ, क्योंकि वे अनात्म ज्ञानी तो स्वतन्त्र नहीं, कर्मों के अधीन हैं।

इसके विपरीत जिन्होंने इसीलोक में उपासना द्वारा सत्य का साक्षात्कार कर लिया है। जिन्होंने आत्मा को तथा सत्य काम सत्य संकल्प परब्रह्म परमात्मा को जान लिया है और फिर वे परलोक को प्राप्त होते हैं, तो अपनी इच्छानुसार जिन लोकों में भी जाना चाहें उन्हीं लोकों में स्वेच्छा पूर्वक जा सकते हैं।

उनकी समस्त लोकों में स्वच्छन्द गति—यथेच्छ गति—हो जाती है।

जिन्होंने उस दहर ब्रह्म की—जो हृदय कमल के भीतर अवस्थित है उसकी उपासना की है, यद्यपि वह समस्त कामनाओं से विमुक्त बन जाता है। तथापि पूर्व जन्म की कोई कामना अवशेष भी रह गयी हो, तो इच्छा करते ही उस कामना की पूर्ति हो जाती है। उसके मन में कदाचित पितृलोक जाने की कामना उत्पन्न हो जाती है, तो उसे पितृलोक जाना नहीं पड़ता, उसके संकल्प करते ही पितृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस पितृलोक से सम्पन्न होकर वह महिमान्वित होता है। अपने पितरों से उसका आत्म सम्बन्धित्व हो जाता है।

इसी प्रकार उसके मन में कदाचित अपनी माताओं के लोक की कामना उत्पन्न हो जाती है तो उसकी मातायें वहीं आकर उपस्थित हो जाती है। वह अपनी माताओं से आत्म सम्बन्धित्व को प्राप्त हो जाता है, वह मातृलोक से सम्बन्धित होने से उसकी महिमा को प्राप्त हो जाता है। इसी भाँति मातृलोक की कामना होने पर मातृगण, सखा लोक की कामना होने पर सखागण उसके संकल्प मात्र से वहाँ आकर उपस्थित हो जाते हैं और उन-उन लोकों से सम्पन्न होकर उनकी महिमा को प्राप्त होता है।

यदि उनके मन में ऐसी इच्छा कभी उठ आवे कि मुझे अच्छे-अच्छे सुगन्धित पदार्थ प्राप्त हों, सुन्दर सुगन्धित मालायें मिल जायँ, सुगन्ध वाले लोक प्राप्त हों तो उसे कहीं अन्यत्र जाना नहीं पड़ता उसके संकल्प मात्र से ही गन्ध माल्यादि वहीं उपस्थित हो जाते हैं वह उन लोकों की विभूति मे सम्पन्न होकर उनकी महिमा को प्राप्त होता है।

इसी भाँति उसे कभी सुस्वादु अन्न की दिव्यपान सम्बन्धी कामना हो जाती है तो उसके संकल्प मात्र से ही संकल्पित अन्न पान उनके समीप स्वयं ही आकर समुपस्थित हो जाते हैं, उस अन्नपान लोक से सम्पन्न होकर उसकी महिमा को प्राप्त होता है। इसी प्रकार गीत वाद्य सम्बन्धी कामना होने पर, स्त्री लोक की कामना होने पर उसके संकल्प मात्र से ही वे सब वहाँ उपस्थित हो जाते हैं और तत्तद्लोक से सम्पन्न होकर वह महिमान्वित हो जाता है।

कहाँ तक कहें, वह सत्य काम साधक जिस-जिस प्रदेश की कामना करता है जिस-जिस भोग की कामना करता वह सभी उससे संकल्प करने मात्र से ही जहाँ भी वह स्थित रहता है वहीं उसे वे सभी वस्तुएँ, वे सब पदार्थ, वे सब लोक प्राप्त हो जाते हैं और उनसे सम्पन्न होकर वह उस महिमा को प्राप्त होता है।

सत्यकाम जो परब्रह्म परमात्मा हैं, वे सबको दिखायीं क्यों नहीं देते? इसलिये दिखायी नहीं देते कि हिरण्मय पात्र से वे ढके हुए हैं। हिरण्मयपात्र क्या? अनृत—असत्य—का जो आच्छादन ढकना—है उसे ही हिरण्मय पात्र कहते हैं। उस अनृत के आच्छादन से सत्य होने पर भी प्राणी उसे देख नहीं सकते क्योंकि अनृत ने—मिथ्या ने—उसका अपिधान कर रखा है उस सत्य को छिपा रखा है।

अब देखो, अपने सैकड़ों सगे सम्बन्धी मर-मरकर परलोक को जाते हैं। लोग चाहते हैं हमारा मरा हुआ पिता, भाई सगा सम्बन्धी हमें पुनः देखने को मिल जाय, किन्तु वह देखने को नहीं मिलता है। किन्तु हमारे समस्त सगे सम्बन्धी और सब कुछ चाहें वे जीवित हों, अथवा मर गये हों, वे सब के सब

हृदयाकाश स्थित ब्रह्म में स्थित हैं, आत्मवेत्ता इच्छा करने पर अपने हृदय प्रदेश में चाहे तो उनको प्राप्त कर लेता है।

अब प्रश्न यह है, कि जब वे सब हृदय में ही स्थित हैं प्राणियों को अपने मृतक सम्बन्धी यहाँ दिखायी क्यों नहीं देते, वे हृदयाकाश स्थित दहर में विद्यमान हैं ही। इस पर कहते हैं, प्राणियों को हृदय में विद्यमान रहते हुए भी दीखें कैसे ? क्योंकि यहाँ पर तो ये समस्त काम अनृत से ढके हुए हैं। जो वस्तु किसी से ढकी हुई है, वह विद्यमान रहते हुए भी उससे अनभिज्ञ पुरुषों को दिखायी नहीं देती। इस विषय को इस दृष्टान्त से समझिये।

एक कोई धनी व्यक्ति है। उसके बहुत से पुत्र हैं। और सब तो अयोग्य हैं, उनमें एक पुत्र योग्य है। धनिक अपने सम्पूर्ण धन को योग्य पुत्र को ही देना चाहता है। उसने अपना समस्त सुवर्णादि धन एक गड्ढे में भरकर ऊपर पत्थर रखकर उसे भली प्रकार ढक दिया है। उस पर घास जम गयी है। सभी व्यक्ति उसी धन के ऊपर से नित्य ही आते जाते रहते हैं, अनेकों बार उसके ऊपर-ऊपर विचरते रहते हैं, किन्तु वे जानते नहीं, भीतर विपुल धन राशि छिपी है। जिसे उस धनिक ने जता दिया है, केवल वही इस रहस्य को जानता है। दूसरे लोग उसे रहते हुए भी नहीं जान सकते नित्य प्रति उसके समीप उसके ऊपर जाते हुए भी उससे अनभिज्ञ ही बने रहते हैं।

इसी प्रकार समस्त प्रजाजन नित्य ही ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, नित्य ही ब्रह्मलोक जाते हैं, किन्तु उस सत्यकाम परब्रह्म से अनभिज्ञ रहते हैं।

शौनक जी ने कहा—"सूतजी ! यह बात हमारी समझ में नहीं आई। ब्रह्मलोक को नित्य प्राणी कैसे जाते है और वहाँ जाकर भी सत्य काम परब्रह्म से अनभिज्ञ बने रहते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! सत्यकाम परब्रह्म सुख स्वरूप परमात्मा की यही परिभाषा है कि जहाँ शोक, मोह, दुःख, भूख, प्यास आदि कुछ न हों। जब प्राणी प्रगाढ़ निद्रा में शयन करता है तब उसके शोक मोह दुःख भूख प्यास सभी समाप्त हो जाते हैं। सुषुप्ति अवस्था में प्राणी नित्य ही ब्रह्म सुख का अनुभव करता है, उसके पास तक पहुँचता है किन्तु अज्ञान सहित लीन होता है। ब्रह्म उस अज्ञान रूप अनृत से आच्छादित होने के कारण उसके समीप पहुँचने पर भी उससे साक्षात्कार नहीं होता। समस्त प्रजाजन उस नित्य ब्रह्म सुख के समीप जाने पर उसके दर्शनों से वंचित रह जाते हैं।

वह परब्रह्म परमात्मा किसी दूर देश में नहीं, वह तो हृदय में ही विद्यमान है। यह हृद् में ही आत्मा है, इसलिये इसकी 'हृदय' संज्ञा भी है (हृदि–अयम्=हृदयं) यही इसकी व्युत्पत्ति है। जो इस रहस्य को जानता है, वह मानों प्रतिदिन स्वर्ग को जाता है। इसी हृदय दहर मध्य स्थित आत्मा का सत्य भी नाम है।

इस लोक में रहता हुआ भी ज्ञानी सत्य अनुभव तो करता है, किन्तु उस जीवन्मुक्त पुरुष के लिये भी शरीर एक उपाधि ही है। अशरीरता ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है अतः जो यह ज्ञान सम्यक् प्रकार से प्रसाद गुणयुक्त होकर शरीर का परित्याग करके अर्थात् शरीर से उत्थान करके परम ज्योति जो ब्रह्म स्वरूप उसी को प्राप्त करके अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही आत्मा अमृत है, यही अभय पद है, यही ब्रह्म है, यही भूमा है और इसी को सत्य भी कहते हैं।

इसे 'सत्यं' क्यों कहते हैं? सत्यं में सकार, तकार 'यम्' ये तीन अक्षर हैं। सकार का अर्थ है वह अमृत है। तकार का

अर्थ मर्त्य है, जड़ कहो प्रकृति कहो। इन अमृत और मर्त्य दोनो का नियामक है, दोनों को जो चलाने वाला है, वही 'यम्' है, वह दोनों का नियमन करता है। अर्थात् जो मर्त्य अमर्त्य सभी का नियामक है, संचालक है, नेता है, प्रधान है, वही ब्रह्म सत्य स्वरूप है। जो इस रहस्य को जानता है, इसके मर्म को पहिचानता है, वह जानने पहिचानने वाला नित्य प्रति स्वर्ग को जाता है। अर्थात् वह सुख स्वरूप ही हो जाता है।

आत्मा ही महामहिम है, इन समस्त लोकों में संकरता न आ जाय, परस्पर में इन लोकों में संघर्ष न हो जाय, इनमें सम्भेद न पड़ जाय, इसके लिये आत्मा सेतु के समान है, यह एक लोक से दूसरे लोक में जाने का मानों पुल है। इस सेतु के कारण सभी अपनी-अपनी मर्यादा में बने रहते हैं। दिन तथा रात्रि इस सेतु का अतिक्रमण नहीं करते। यह सेतु ऐसा सुदृढ़ है कि यह कभी पुराना नहीं पड़ता, जरा इसका स्पर्श नहीं कर सकती। मृत्यु इसके पास भी नहीं फटक सकती, शोक इसके समीप भी नहीं आ सकता, सुकृत या दुष्कृत इसे छू भी नहीं सकते। सम्पूर्ण पाप इसके पास निवृत्त हो जाते हैं, यह सेतु ब्रह्म लोक स्वरूप है पापों से सर्वथा रहित है। इसलिये सेतु को कोई अन्धा भी पार जाय तो वह अन्धा नहीं रहता। अर्थात् कोई अज्ञानी साधक भी साधना करते-करते इस सेतु से पार हो जाता है, तो उसका अज्ञान नष्ट होकर ज्ञानी बन जाता है। कोई आयुध से विद्ध हुआ है, घायल है, वह भी इस सेतु को पार कर जाय, तो दिव्य देह वाला अविद्ध हो जाता है। अर्थात् जो पाप से विद्ध भी इस ओर बढ़ता है तो निष्पाप निष्कल्मष-बन जाता है। कोई ज्वरादि मस्त उपतापी रोगी होने पर भी इसे पार कर जाता है, तो वह निरोग-अनुताप रहित बन जाता है।

इस सेतु को अन्धकार रूप रात्रि में भी पार करो तो फिर रात्रि न रहकर प्रकाशमय दिन बन जाता है। अर्थात् अज्ञानान्धकार में पड़ा साधक इस सेतु को तरता है तो उसके लिये सदा ज्ञान रूप प्रकाश प्राप्त हो जाता है।

यह ब्रह्मलोक रूप सेतु किनको प्राप्त होता है? जो शास्त्रीय एवं गुरु परम्परा प्राप्त ज्ञान के अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत द्वारा इसके प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हीं साधकों को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति सम्भव है जो ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा इसे प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे उपासकों की सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ गति हो जाती है, वे जिस भी लोक में जाना चाहें उसमें बिना किसी रोक टोक के स्वतन्त्रता पूर्वक जा सकते हैं।

ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल सप्तम धातु वीर्य की रक्षा मात्र ही नहीं है। ब्रह्म:अर्थात् ज्ञान, तप, वेदान्तार्थ का जो आचरण है उसी का नाम ब्रह्मचर्य है। (ब्रह्म=वेदार्थं ज्ञानं तपं वा चर्य-आचरणीयम्—इति ब्रह्मचर्य्यम्) इसमें यज्ञ, इष्ट, सत्रायण, मौन, अनाशकायन, अरण्यायन ये सब ब्रह्मचर्य के ही अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचर्य्य के ही दूसरे नाम हैं।

शौनकजी ने पूछा—"यज्ञ तो हवनीय सामग्रियों को अग्नि में स्वाहा पूर्वक हवन करनें को कहते हैं जैसे पाक यज्ञ हविर्यज्ञादि अनेक यज्ञ हैं। ब्रह्मचर्य तो उसका नाम है जो स्त्रियों में भोग बुद्धि न करके उनका दर्शन स्पर्शादि न करना स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, क्रिया निवृत्ति-अर्थात् धातु पतन—ये आठ प्रकार के मैथुन कहे गये हैं। इन से बचे रहने का नाम ब्रह्मचर्य है। जब ये दो भिन्न-भिन्न व्रत हैं तो आप यज्ञ को ब्रह्मचर्य क्यों बताते हैं?

सूतजी ने कहा—"आपने जो यज्ञ तथा ब्रह्मचर्य का अर्थ

बताया। वह तो यथार्थ अर्थ है ही। किन्तु यहाँ भगवती श्रुति दोनों को समान अर्थ में लेती है। उसका कहना है लोक में जिन्हें पाक यज्ञ हविर्यज्ञादि पुरुषार्थ साधन क्रिया कहते हैं, वह यज्ञ भी ब्रह्मचर्य ही है जो इस रहस्य का ज्ञाता है वह ब्रह्मचर्य द्वारा ही उस ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, जहाँ पर साधक की यथेच्छ गति हो जाती है। अतः यज्ञ भी ब्रह्मचर्य का वाचक है। ब्रह्मचर्य्य पुरः सर यज्ञ ही ब्रह्म प्राप्त कराता है।"

शौनकजी ने पूछा—"परमार्थ साधन भूत यज्ञ को ब्रह्मचर्य कहते हैं, यह उपयुक्त ही है। किन्तु इष्ट तो अग्निहोत्र, तप, सत्य वेदों का स्वाध्याय, अतिथि सत्कार और बलि वैश्वदेव इन ६ कर्मों को कहते हैं। आप इष्ट को ब्रह्मचर्य कैसे बताते हैं।"

सूतजी ने कहा—"इन ६ कर्मों का नाम तो इष्ट है ही। किन्तु भगवती श्रुति इस इष्ट का भी समावेश ब्रह्मचर्य में ही करते हुए कहती है—इष्ट का अर्थ परमात्मा का पूजन है, जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके उसके द्वारा उन परमात्मा का पूजन करते हैं, वे ही पुरुष परमात्मा को प्राप्त होते हैं। अतः इष्ट भी ब्रह्मचर्य ही है।"

शौनकजी ने कहा—"सत्त्रायण तो यज्ञ विशेष का नाम है, जिसमें यथेच्छ अन्न गौ आदि दक्षिणा सहित दिया जाता है। (सत्—जीवात्मा तस्य त्रायणम्—रक्षणम्—इति सत्त्रायणम्) जीव की रक्षा अन्न से ही होती है। अन्न बहुल यज्ञ का नाम सत्त्रायण है, फिर आप ब्रह्मचर्य को सत्त्रायण कैसे कहते हैं?"

सूतजी ने कहा—"सत्त्रायण का जो अर्थ बताया, सो तो यथार्थ है ही, आत्मा की जिससे सतत रक्षा हो उसका नाम सत्त्रायण है। वास्तव में देखा जाय तो ब्रह्मचर्य से ही आत्मा

की सतत रक्षा होती है। विन्दुपात को ही मरण कहा है और विन्दु-ब्रह्मचर्य को धारण करना ही जीवन है। इसीलिये ब्रह्मचर्य को सत्त्रायण कहा गया।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! मौन तो मुनि भाव को वाणी संयम को कहते हैं। (मुनेर्भावइति—मौनम्) अर्थात् वाणी द्वारा शब्दों का प्रयोग न करे, भाषण न करे, चुपचाप रहे। फिर आप ब्रह्मचर्य को मौन क्यों कहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"मौन का जो अर्थ आपने बताया सो तो यथार्थ है ही, किन्तु भगवती श्रुति यहाँ कहती है। मननशील का ही नाम मौन है। ब्रह्मचर्य साधन से युक्त होकर ही साधक सम्यक प्रकार से मनन कर सकता है। मनन तो तभी हो सकेगा जब शास्त्रों द्वारा सद्गुरु द्वारा आत्मा का ज्ञान हो। जब ज्ञान होगा तभी ध्यान मनन कर सकेगा। ब्रह्मचर्य के बिना मनन ध्यान व्यर्थ है अतः यथार्थ मौन ब्रह्मचर्य है। ऐसा श्रुति का कथन है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अनाशकायन तो उसे कहते हैं, बिना खाये उपवास करके तप करना। अथवा नाशकायन—विनाशशील न हो अविनाशी हो—विनाश को प्राप्त न हो, फिर आप ब्रह्मचर्य को अनाशकायन क्यों कहते हैं ?"

इस पर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! श्रुति का तात्पर्य है। अनाशकायन वास्तव में आत्मा है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता। उस आत्मा को साधक ब्रह्मचर्य द्वारा ही प्राप्त करता है। ब्रह्मचारी का ही आत्मा नष्ट नहीं होता अतः ब्रह्मचर्य का ही नाम अनाशकायन है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अरण्यायन तो अरण्यवास (वानप्रस्थ) को कहते हैं। आप उसे ब्रह्मचर्य कैसे बता रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति अरण्यायन का दूसरा ही अर्थ बताती है। उसका कथन है अरण्यायन में अर, एय और अयन ये तीन शब्द हैं। ब्रह्मलोक में अर (कर्मकांड) एय (ज्ञानकांड) नाम के दो समुद्र हैं। तीसरे द्युलोक में ऐरंमदीय नामका सरोवर है। एक अश्वत्थ का वहाँ वृत्त भी है जिसका नाम सोमसवन है। वहाँ पर ब्रह्माजी की एक पुरी है जिसका नाम अपराजिता है। अर्थात् उस पुरी को कोई भी पराजित करने में समर्थ नहीं। वहाँ प्रभु का विशेष रूप से निर्माण किया हुआ एक दिव्य सुवर्ण मंडप है।

उस ब्रह्मलोक में सभी को पहुँच नहीं है। सभी उसमें प्रवेश नहीं कर सकते। जो लोग अखंड ब्रह्मचर्यव्रत द्वारा अर (कर्मकांड) नाम वाले दोनों अगाध अपार समुद्रों को पार करके वहाँ पहुँचते हैं, उन्हीं को उस ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है। जो वहाँ पहुँच जाते हैं, इन दोनों समुद्रों को पार करके उनकी वहाँ पहुँच हो जाती है उनकी अव्याहत गति हो जाती है, वे सम्पूर्ण लोकों में जहाँ चाहे वहाँ जा सकते हैं। समस्त लोकों में उनकी यथेच्छा स्वेच्छा गति हो जाती है। यह सब होता है ब्रह्मचर्य द्वारा, इसीलिये अरण्यायन ब्रह्मचर्य का नाम है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! इस छांदोग्य उपनिषद् में ब्रह्मलोक का यह तो बड़ा ही सजीव विषयोत्पादक वर्णन है। ऐसा तो हमने अभी तक नहीं सुना।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इसी से मिलता जुलता वर्णन कौपीतकि ब्राह्मण में भी है। वहाँ बताया गया है कि इस ब्रह्मलोक में 'आर' नाम वाला एक ह्रद है। मुहूर्ता नाम की येष्टिहा है। विरजा नाम वाली नदी है। तिल्य नाम का वृक्ष है। सायुज्य नाम का संस्थान है। अपराजित नाम का आयतन स्थान है।

इन्द्र और प्रजापति ब्रह्मा ये दोनों उस पुरी के द्वार रक्षक द्वार-पाल हैं। विभु प्रभु—द्वारा प्रमित—निर्मित—एक दिव्य मंडप है। उस मंडप के मध्य भाग में विचक्षणा नाम की वेदी है। उस वेदी पर एक 'अमितौजा' जिसके तेज, कान्ति, प्रभा, ज्योति की कोई सीमा नहीं ऐसा एक पर्यङ्क पलङ्ग अथवा मणिमय दिव्य सिंहासन है। इस प्रकार साकार उपासकों के लिये इस दिव्य लोक का वर्णन किया गया है। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य ही यजन करने के कारण यज्ञ है, एषणाओं के क्षय करने के कारण इष्ट है, सत् स्वरूप ब्रह्म की रक्षा करने के कारण सत्त्रायण है, मनन करने के कारण मौन है, कभी नष्ट न होने के कारण अनाशकायन है और अर तथा ण्य इन दो समुद्रों को पार कराने के कारण अरण्यायन है उस ब्रह्मचर्य के ही द्वारा अव्याहत गति वाले ब्रह्म-लोक की प्राप्ति हो सकती है। उसी के द्वारा दहर ब्रह्म का परि-ज्ञान संभव है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हृदय प्रदेश में स्थित जो पुण्डरीक है, उसमें जो सूक्ष्म दहर है उसकी उपासना ब्रह्मचर्यादि साधनों द्वारा की जाती है, उस उपासक की गति ब्रह्मलोक में कैसे होती है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! शरीर के भीतर नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है, इन नाड़ियों में सौ नाड़ियाँ प्रधान हैं वैसे ७२ करोड़ नाड़ियाँ बतायी हैं। सौ नाड़ियों से प्रत्येक में से ७२-७२ लाख नाड़ियाँ निकली हैं, इस प्रकार सभी मिलाकर ७२ करोड़ नाड़ियाँ हैं। यद्यपि हृदय प्रदेश से १०० नाड़ियाँ निकल कर मूलाधार तक आई हैं फिर उनमें से छोटी-छोटी नाड़ियाँ निकल कर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गई हैं। उन सौ में भी १० नाड़ी प्रधान हैं। इनके नाम हैं (१) इडा, (२) पिंगला, (३) सुषुम्ना,

(४) गान्धारी, (५) हस्तिजिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुसा, (९) कुहू और (१०) शङ्खिनी हैं। सम्पूर्ण शरीर में ये ही दश प्राणों को पहुंचाने वाली प्राण धारण करने वाली हैं। इनमें बायीं नासिका में इडा नाड़ी है। और दायीं में पिंगला है। इन दोनों के मध्य में सर्वप्रधान सुषुम्ना नाड़ी है। पीठ के पीछे जो रीढ़ की हड्डी की एक के ऊपर एक रक्खी हुई कसेरुकायें हैं उनके बीच में एक नाली सी बन गयी है, उसे ब्रह्म नाल कहते हैं, ये कसेरुकायें सिर से लेकर गुदा तक है, यह कुछ वंक–टेढ़ी है। इसलिये इसका नाम वंकनाल भी है। इस बंकनाल में सुषुम्ना मून्धा से चलकर गुदा के मूलाधार चक्र में जो शिवलिंग है, उसकी साढ़े तीन वलय लगाकर अपनी पूँछ को मुख में दबाकर प्रसुप्त हुई पड़ी रहती है। कुण्डलाकार सोती रहने से इसे कुण्डलिनी भी कहते हैं। जब तक यह सोई रहती है, तभी तक जीव अज्ञान अन्धकार में पड़ा रहता है। जब शास्त्रीय साधनों द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत होकर उलटी ऊपर को चढ़ती है। गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, कंठ और भ्रू मध्य के ६ कमलों को वेधती हुई सहस्त्र दल कमल में पहुँच जाती है, तभी जीव को ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है, फिर उसे ब्रह्मांड में कुछ भी अज्ञेय नहीं रहता। वह सर्वदर्शी हो जाता है। इसलिये यह तीसरी सुषुम्ना नाड़ी सर्व प्रधान है।

चौथी वायें नेत्र में गांधारी नाड़ी रहती है पाँचवीं दक्षिण नेत्र में रहती है। उसका नाम हस्तिजिह्वा है। छटी दक्षिण कान में रहती है उसे पूषा नाड़ी कहते हैं। सातवीं वायें कान में रहती है उसका नाम यशस्विनी है। आठवीं मुख में रहती है जो अलंबुसा के नाम से विख्यात है। नववीं नाड़ी लिंग प्रदेश में रहती है।

जिसका नाम कुहू है और दशवीं गुदा मार्ग में स्थित है जो शंखिनी कहाती है। ये ही दश प्रधान नाड़ी है।

शरीर में ९ छिद्र हैं, इन नौओं छिद्रों में नौ नाड़ियाँ रहती हैं। एक दशवाँ छिद्र तालु में है। जन्म जात छोटे बच्चे के तालु में वह द्वार लुप्प-लुप्प करते हुए प्रत्यक्ष अनुभव होता है, बच्चा ज्यों-ज्यों बड़ा होता है, त्यों-त्यों वह दशम द्वार कड़ा होते-होते बन्द हो जाता है। मरते समय प्राण इन नौ द्वारों में से किसी एक द्वार द्वारा निकल जाता है। नीचे के गुदा लिंगों द्वारा प्राण निकलने से अधोगति होती है ऊपर के द्वारों से निकलने से ऊर्ध्व गति किन्तु इन नौ द्वारों से प्राण निकलने वालों का पुनर्जन्म होता है। यदि भाग्यवश सुषुम्ना का द्वार विशुद्ध बन जाय, और कुण्डलिनी शक्ति गुदा से चलकर सहस्र दल कमल में मूर्ध्नी में आ जाय और दशम द्वार को फोड़कर प्राण निकलें तो फिर जीव का जन्म नहीं होता। वह जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है। त्रिकालज्ञ ऋषियों ने इन नाड़ियों का ज्ञान द्वारा समाधि में साक्षात्कार किया है। इनकी गति को रङ्ग रूप को प्रत्यक्ष देखा है। उसी का संक्षेप में श्रुति वर्णन करती है।

ये जो हृदय की नाड़ियाँ हैं इनमें रस प्रवाहित होता रहता है, इन नाड़ियों का सीधा सम्बन्ध सूर्य से हैं, इन हृदयस्थ नाड़ियों में प्रवाहित होने वाला रस पिंगल, शुक्ल, नील पीत और लोहित लाल वर्ण का होता है। इनके पाँच ही वर्ण होते हैं। एक तिकौने शीशे में सूर्य की ओर देखो, तो उसमें सूर्य के पिंगल, शुक्ल, नील, पीत और लाल ये पाँच वर्ण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। सूर्य में जो पाँच वर्ण हैं, वे ही पाँचों वर्ण हृदयस्थ नाड़ियों में हैं।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! सूर्य में तो पाँच वर्ण प्रत्यक्ष दीखते हैं, किन्तु हृदयस्थ नाड़ियों में ये रङ्ग कैसे हो जाते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! सूर्य के तेज द्वारा ही तो समस्त प्राणी जीते हैं। तेज वायु द्वारा तेज की वृद्धि है, तेज से जल और जल से पृथ्वी होती है। यह पार्थिव शरीर वायु, तेज और जल द्वारा ही जीवित रहता है अन्न तो पार्थिव है ही। अन्न से रस बनता है, जल से कफ बनता है, वायु शरीर में जाकर वात हो जाती है। तेज अथवा अग्नि ही पित्त शरीर में जाकर पित्त का रूप रख लेती है। वात, पित्त और कफ ये ही तीन गुण शरीर को टिकाये रहते हैं, ये जब कुपित होते हैं, तो इन्हीं की त्रिदोष संज्ञा हो जाती है। नाड़ियों में भ्रमण करने वाला रस वात, पित्त और कफ के रंग से रंजित होने के कारण जिस-जिस नाड़ी में संचार करता है उस-उस नाड़ी को अपने ही रङ्ग में रङ्ग लेता है। जैसे पित्त का वर्ण पीला है, कफ का वर्ण शुक्ल है और वायु का वर्ण काला है ये जो हृदय की नाड़ियाँ हैं वे पिंगल वर्ण सूक्ष्म रस की हैं। कुछ शुक्ल, नील, पीत और लोहित—लाल—वर्ण की हैं। क्योंकि सूर्य में पिंगल, शुक्ल, नील, पीत और लाल वर्ण विद्यमान हैं। हृदय की नाड़ियों का और सूर्य की किरणों का परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। ये किरणें पुरुष की नाड़ियों में और आदित्य मंडल में दोनों में ही व्याप्त रहती हैं। ये किरणें आदित्य में से ही निकली हैं और नाड़ियों में व्याप्त हैं, नाड़ियों में से निकलकर सूर्य में व्याप्त हैं। जैसे एक रामगढ़ नाम का एक ग्राम है, उसमें से एक राजपथ—बड़ा मार्ग—निकलकर दश कोश दूर के श्यामगढ़ को गया है। तो सड़क रामगढ़ से श्यामगढ़ को भी गयी है और श्यामगढ़ से रामगढ़ को भी गयी है। रामगढ़ से श्यामगढ़ जाने वाले व्याव्यक्ति भी उसी सड़क से जाते हैं तथा

श्यामगढ़ से रामगढ़ आने वाले भी उसी सड़क से आते हैं। वह सड़क दोनों नगरों के सम्बन्ध को एक करे हुए है। इसी प्रकार सूर्य की किरणें इन नाड़ियों में प्रवेश करके उष्णता पहुँचाती हैं। हृदयाकाश की नाड़ियों का आदित्य से नित्य सम्बन्ध है। नाड़ियों का आदान-प्रदान बन्द हो जाय, तो शरीर में उष्णता न रहेगी, वह मृत बन जायगा। जीवात्मा जागृत अवस्था में मन के अधीन होकर विश्व में भटकता रहता है। जिस समय प्रगाढ़ निद्रावस्था होती है, जिसमें स्वप्न आदि कुछ भी दिखायी नहीं देते। सम्यक् प्रकार से लीन हुआ पुरुष आनन्द के साथ गहरी नींद में सोता है, उस समय पुरुष इन हृदय की नाड़ियों में ही प्रवेश कर जाता है। उस समय उसे दुःख, शोक, भय, आदि, व्याधि आदि कोई भी पाप स्पर्श नहीं करता। उस समय वह आनन्दानुभव करता हुआ सौर तेज से व्याप्त रहता है। जिन नौ छिद्रों में व्याप्त नौ नाड़ियों के नाम हम पहिले बता आये हैं, वे नाड़ियाँ इन्द्रियों को निरुद्ध कर लेती हैं। इसीलिये प्रगाढ़ निद्रा में इन्द्रियाँ बाह्य विषयों का भी अनुभव नहीं करतीं और न स्वप्न ही देखती हैं। क्योंकि देखने सुनने वाला पुरुष तो सुषुप्ति में हृदयगत नाड़ियों में जाकर ब्रह्मानन्द सुख का अनुभव कर रहा है। क्योंकि जीवात्मा ने अज्ञान के साथ हृदयगत आकाश में प्रवेश किया था, इसीलिये जागने पर उसे अज्ञान फिर घेर लेता है, फिर विश्व के प्रपंच में फँस जाता है। जब तक नाड़ियों में सूर्यगत रश्मियों की उष्णता रहती है, तभी तक उसमें जानने पहिचानने की शक्ति रहती है। जबउष्णता शरीर से चली जाती है या जाने लगती है, तब पुरुष के पहिचानने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। वह ठंडा पड़ जाता है। आदित्य की रश्मियों की उष्णता फिर हृदयस्थ नाड़ियों में नहीं लौटती।

तभी तो आदमी जब मरने लगता है, मुमूर्षु हो जाता है शरीर क्षीण और दुर्बल हो जाता है, देहगत उष्णता कम होने लगती है, तब उसके परिवार के लोग उसे चारों ओर से घेर कर बैठ जाते हैं और पूछते हैं—"मुझे आप पहिचान रहे हैं, मैं कौन हूँ ?" उनके पूछने का तात्पर्य यह है कि अभी आपकी नाड़ियों में सूर्यगत रश्मियों की उष्णता विद्यमान है न ? क्योंकि जब तक जीवात्मा इस शरीर का परित्याग नहीं करता तब तक वह पहिचानता है। जब इस शरीर को जीवात्मा छोड़ देता है। नाड़ियों में सूर्यगत रश्मियों की उष्णता समाप्त हो जाती है, वह ठंडा पड़ जाता है तब नहीं पहिचानता।

ये सूर्यगत किरणें ही मरने के पश्चात् पुरुष को ऊपर की ओर ले जाती हैं जो ॐ ऐसे एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करते हुए ज्ञान पूर्वक प्राणों का परित्याग करता है वह ऊर्ध्व लोकों को जाता है परमगति को प्राप्त होता है। जो अज्ञान पूर्वक विवशता के साथ प्राणों का परित्याग करता है वह अधो लोकों को जाता है। बारम्बार जन्मता मरता रहता है।

ऊर्ध्वगति वाले को आदित्य लोक में जाने में देर नहीं लगती। जितनी देर में मन जाता है उतनी ही देर में वह आदित्य लोक में पहुँच जाता है। आदित्यलोक तक विद्वान्, अविद्वान् सब जाते हैं। विद्वान् तो सूर्य मण्डल को भेद कर ब्रह्मलोक को चले जाते हैं। अविद्वान् पुनः पुनरावर्ती लोकों को प्राप्त होते हैं। यह आदित्य लोक मुक्ति तथा मुक्ति दोनों का द्वार है। जैसे हरिद्वार है। हरिद्वार से चाहो तो आप गङ्गाजी के किनारे-किनारे नीचे गङ्गासागर तक आ सकते हो। ऊपर को जाना चाहो तो चढ़ते-चढ़ते गो मुख तक पहुँच सकते हो इसी प्रकार आदित्य लोक—

सूर्य द्वार–विद्वानों के लिये ब्रह्मलोक प्राप्ति का स्थान है और अविद्वानों के लिये निरोध स्थान है।

जो सुषुम्ना नाड़ी है, उसका सूर्य की एक किरण के साथ सीधा सम्बन्ध है, किन्तु वह सम्बन्ध दशमद्वार के द्वारा है, हृदय की एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। प्राण इन्हीं के द्वारा उत्क्रमण करते हैं, एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हैं। सुषुम्ना नाड़ी जो हृदय से सीधी मस्तक की ओर गयी है, उस नाड़ी द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी उत्थित होकर मस्तिष्क में आ जाती है और दशवें द्वार को फोड़कर सुषुम्ना द्वार से प्राण निकलते हैं तो ऐसा ऊर्ध्वगति वाला जीव अमरत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् वह ब्रह्माण्ड को फोड़कर इससे बाहर हो जाता है फिर उसका संसार में कभी जन्म नहीं होता। शेष जो इधर-उधर जाने वाली सौ नड़ियाँ हैं, उनके द्वारा निकलने वाले जीव का केवल उत्क्रण ही होता है। अर्थात् वह एक शरीर को छोड़कर उसी प्रकार दूसरे शरीर में चला जाता है, जैसे पुराने कपड़े को छोड़कर नया कपड़ा पहिन लिया, अथवा सर्प पुरानी कैंचुल का परित्याग करके नई कैंचुल में आ गया। वे जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूटते।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह दहर ब्रह्म की उपासना है। यही हृदय नाड़ी और सूर्य रश्मि रूप मार्ग है। यह मैंने आपसे कहा। अब जैसे इन्द्र और विरोचन अमरत्व का अनुसंधान करने के निमित्त भगवान् प्रजापति के समीप जायँगे और वे जैसे इन्हें अमरत्व का उपदेश करेंगे उस प्रसंग को मैं आगे कहूँगा—

छप्पय

(१)

सत्यकामना आत्म अज्ञ परलोक क्षयिष्णु ।
आत्मभाव तैं विज्ञ होइ अव्याहत गतिहू ॥
जिनि लोकनि की करैं कामना वे सब आवैं ।
जिनि जिन महिमा प्राप्त विज्ञ हिय में पा जावैं ॥
ब्रह्म सत्य ताकूँ कहैं, अमृत अभय है एक रस ।
स-त-यं इनिके भाव लखि, स्वरग लोक जावैं स्ववश ॥

(२)

आत्मा है यह सेतु मृत्युभय जरा न दुष्कृत ।
सेतु जाइ जो तरैं सदा ही रहैं प्रकाशित ॥
ब्रह्मचर्य तैं प्राप्त होइ अव्याहत गति तिन ।
ब्रह्मचर्य सर्वस्व पाहि आत्मा तिहि पूजन ॥
द्वै समुद्र अर-ण्य-हु कहे, ऐरंमदिय तलाब इक ।
सोम सवन पीपर पुरी-ब्रह्म सुमण्डल घर कनक ॥

इति छान्दोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय में प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पंचम तथा षष्ठ खण्ड समाप्त ।

इन्द्र और विरोचन को प्रजापति द्वारा आत्म तत्त्व का उपदेश

(१६३)

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा ँ श्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ श्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥*

(छां० उ० ८ अ० ७ खं १ मं०)

छप्पय

(१)

'अर' अरु 'राय' द्वै जलधि ब्रह्मचारी तरि जावैं ।
ब्रह्मलोक कूँ पाइ यथेच्छ हु गति ते पावैं ॥
नील, पीत, रस शुक्ल सु—लोहित पिंगल रवि में ।
सूर्य्य रश्मि-हिय नाड़ि परस्पर मिलीं उभय में ॥
सूर्य रश्मि तनु उष्णता, लोक - द्वार आदित्य यह ।
अज्ञ विज्ञ गति ऊर्ध्व अघ—इतई तैं पावैं सबहि ॥

---

* "यह जो आत्मा है, वह पाप रहित, जरा वर्जित, मृत्यु रहित, विशोक, भूख-प्यास से रहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प है उसी का अन्वेषण करना चाहिये । उसी की विजिज्ञासा करनी चाहिये । जो उसे जान लेता है, वह समस्त लोक तथा सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ।" यह बात ब्रह्माजी ने कही है ।

(२)

आत्मा जानन जोग्य जाइ जाने सब जानत ।
इन्द्र विरोचन आतम-तत्त्व जानत अज प्रापत ॥
ब्रह्मचर्य बत्तीस बरष करि आतम प्रश्न करि ।
अज बोले जो चक्षु पुरुष सो ब्रह्म अभय हरि ॥
जल में जो प्रतिबिम्ब है, अभय अमृत आत्मा वही ।
निश्चय करि दोऊ चले, असुर देह आत्मा कही ॥

जगत् के जितने पदार्थ हैं, सब कुछ-न-कुछ पाप से बिद्ध हैं। क्योंकि पाप पुण्य के ही प्रभाव से प्राणी जन्म लेता है, जो पाप पुण्य से परे पहुँच जाते हैं, वे पुनः जगत् में नहीं आते हैं। संसार के जितने भी उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं, एक न एक दिन वे अवश्य बूढ़े होंगे, जरावस्था उन्हें प्राप्त होगी ही। जग में जो जन्मा है वह मरेगा भी अवश्य। उत्पन्न होने वाले की मृत्यु ध्रुव है। शरीर संसर्ग से शोक होना स्वाभाविक है। शरीर है तो उसमें क्षुधा पिपासा अवश्यम्भावी है, संसारी पुरुषों की समस्त कामनायें कभी पूरी नहीं होतीं, न सभी संकल्प ही परिपूर्ण होते हैं। जो पाप, जरा, मृत्यु, शोक क्षुधा, पिपासा से रहित हो सत्य-काम और सत्यसंकल्प हो, वही अविनाशी अज अनादि अनन्त आत्मा है साधकों को उसी का अन्वेषण करना चाहिये। जो मर्त्यधर्मी है, नाशवान् है अशाश्वत है उसके सम्बन्ध में चिन्तन मनन करने से लाभ ही क्या ?

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आत्म तत्त्व के विवेचन के निमित्त देवताओं के राजा इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन की कथा का आरम्भ करते हैं। भगवान् कमलयोनि प्रजापति ने देवता, असुर, राक्षस तथा मनुष्य आदि के लिये एक सार-

गर्भित उपदेश दिया। ब्रह्माजी का कथन था—पुरुषों को उस आत्मा का अन्वेषण करना चाहिये, जो पाप, जरा, मृत्यु, क्षुधा तथा पिपासा से रहित है। जो सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है। जो साधक शास्त्र ज्ञान द्वारा गुरु शुश्रूषादि कर्मों द्वारा अभ्यास करते-करते उस आत्मा को जान लेता है, उसके लिये कोई भी बात दुर्लभ नहीं रह जाती। वह जिस भी लोक में जाना चाहे, चला जा सकता है, वह जो भी कामना करे वही पूर्ण हो सकती है। अतः परम पुरुषार्थ यही है, कि मनुष्य को ऐसी आत्मा की खोज करनी चाहिये।"

ब्रह्माजी का यह सार्वजनिक उपदेश था, सबके लिये था, सर्वविदित था। देवता तथा असुरों ने परम्परा से—पिता से सुनकर पुत्र ने उस पुत्र से सुनकर उसके पुत्रों ने ऐसे वंशानुक्रम से—इस उपदेश को सुन लिया था। देवताओं और असुरों की सभाओं में इस पर चर्चा चली, कि जानने योग्य वस्तु क्या है। सबने प्रजापति के वचनों को उद्धृत किया, कि प्रजापति का कथन है आत्मा को ही जानना चाहिये क्योंकि आत्मा के जान लेने पर जीव समस्त लोकों को, समस्त भोगों को सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। अतः आत्मा का ही अन्वेषण करना चाहिये।"

देवताओं की सभा में निश्चय हुआ कि जब जानने योग्य एकमात्र आत्मा ही है, तो सबको उसी की जिज्ञासा करनी चाहिये, उस आत्मतत्त्व की शिक्षा प्राप्त करने देवताओं के राजा देवेन्द्र को ब्रह्माजी की सेवा में जाना चाहिये और आत्मज्ञान प्राप्त करके उसे हम सबको सिखाना चाहिये।

देवता, असुर राक्षसादि सभी ब्रह्माजी को तो मानते ही हैं, जब उन्होंने सुना आत्मतत्त्व के अनुसन्धान के निमित्त देवताओं

की ओर से देवेन्द्र प्रजापति के समीप जा रहे हैं, तो उन्होंने भी निश्चय किया हमारी ओर से असुरेन्द्र विरोचन आत्मतत्त्व की जिज्ञासा के निमित्त प्रजापति के समीप जायँ। देवताओं और असुरों की परिषदों में ऐसा निश्चय होने पर इन्द्र स्वर्ग के समस्त सुखों को त्यागकर स्वर्ग का राज्य अन्य देवताओं को सौंपकर त्याग भाव से प्रजापति के समीप जाने को उद्यत हुए।

इधर असुराधिप विरोचन भी समस्त सुख त्यागकर असुरों के शासन को अन्य असुरों को सौंपकर वे भी ब्रह्माजी के पास जाने को कटिबद्ध हुए। इस प्रकार दोनों परस्पर में ईर्ष्या करते हुए शास्त्रीय विधि से समित्पाणि होकर—हाथ में समिधायें लेकर—भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी की सेवा में समुपस्थित हुए। दोनों चाहते थे मुझे ही यह विद्या सर्वप्रथम प्राप्त हो जाय।

शास्त्र का वचन है, जो अपने यहाँ चिरकाल तक निवास न करे, उसे उपदेश नहीं करना चाहिये। अतः गुरु को प्रसन्न करने के निमित्त अपने में साधन की पात्रता लाने के निमित्त दोनों ही ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए ब्रह्माजी की सेवा में—उनकी सन्निधि में बत्तीस वर्ष पर्यन्त रहे। इस अवधि में न ब्रह्माजी ने इनसे कुछ पूछा और बिना पूछे इन्होंने भी ब्रह्माजी से कुछ कहना उचित न समझा।

बत्तीस वर्ष के पश्चात् एक दिन ब्रह्माजी ने इनसे पूछा—वत्सो! तुम यहाँ मेरे समीप किस इच्छा से वास कर रहे हो? तुम्हारे यहाँ रहने का प्रयोजन क्या है?"

ब्रह्माजी के पूछने पर दोनों ने कहा—"भगवन्! हमने परम्परा से ऐसा सुना है, कि आपने सबको उपदेश करते हुए यह कहा है कि—"पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा तथा पिपासा रहित सत्यकाम सत्यसंकल्प आत्मा का ही अन्वेषण करना

चाहिये और उसी की विजिज्ञासा करनी चाहिये। जो उस आत्मतत्त्व को विशेष रूप से जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोकों को समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है।" ऐसा हमने परम्परा से सुना है और आपके इस उपदेश को शिष्ट जन सदा दुहराते रहते हैं, प्रसंग आने पर सभी को बताते रहते हैं। सो हम उसी आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से आपकी सेवा में समुपस्थित हुए हैं, कृपा करके हमें आत्मतत्त्व का उपदेश दें।"

देवता और असुरों के राजाओं की तपस्या और विनय को देखकर ब्रह्माजी प्रसन्न हुए उन्होंने उन दोनों से कहा—"देखो, भैया! तुम्हारे नेत्रों के बीच में जो एक काला तिल है उसमें एक पुरुषाकार जो आकृति दिखायी देती है वही आत्मा है, वही अमृत है और वही अभय है यही ब्रह्म है।"

इस पर दोनों ने कहा—"भगवन्! नेत्र में तो छोटा-सा रूप दिखायी देता है, जल में देखें तो उसमें सब ओर आकृति प्रतीत होती है। दर्पण में भी देखते हैं, तो उसमें भी एक आकृति दृष्टि-गोचर होती है, इनमें से आत्मा कौन है?"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"चक्षु में जो पुरुष दृष्टिगोचर होता है, वही इन सबमें सब ओर से प्रतीत होता है।"

तब ब्रह्माजी ने एक सकोरे में जल मँगाया और दोनों से कहा—"इस सकोरे के जल में देखो, क्या दिखायी देता है? आत्मा के सम्बन्ध में जो न जान सको उसे मुझे बताओ, अपनी शंका को पूछो।"

दोनों ने कहा—"भगवन्! इसमें हम अपनी सम्पूर्ण आत्मा को नख से शिख तक एक-एक रोम को ज्यों-का-त्यों देख रहे हैं।"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"अब तुम तपस्वी का वेष त्याग दो।

राजोचित वस्त्राभूषण पहिनकर अपने को भली-भाँति अलंकृत करके, भली प्रकार परिष्कृत होकर बाल आदि सम्हालकर किरीट मुकुट धारण करके तब सकोरे के जल में देखो।"

इन्द्र और विरोचन ने प्रजापति की आज्ञा से अपने शरीर को परिष्कृत किया। वस्त्राभूषणों से अपने को अलंकृत करके वे जल भरे सकोरे के निकट आये। उसमें उन्होंने अपना ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्ब देखा।"

तब उन्होंने ब्रह्माजी से कहा—"भगवन्! इसमें तो हमें दो पुरुषों की प्रतिकृति दिखायी देती हैं। जिस प्रकार पूर्ण परिष्कृत होकर हम वस्त्राभूषणों को धारण करके समलंकृत हैं, उसी प्रकार ये दोनों जल में दिखायी देने वाली प्रतिकृतियाँ भी पूर्ण परिष्कृत वस्त्राभूषणों से समलंकृत दृष्टिगोचर हो रही हैं।"

तब ब्रह्माजी ने कहा—"यही आत्मा है यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है। क्यों है न? जान गये न? तुम्हें यदि कोई और शंका रह गयी हो तो पूछो।"

इस पर दोनों के कहा—"हाँ, भगवन्! समझ गये। अब हमें कोई शंका नहीं रही।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार वे दोनों ब्रह्माजी के उपदेश से अपने को कृतार्थ समझकर शान्तचित्त से ब्रह्माजी के समीप से अपने-अपते स्थानों को चले गये।"

वे दोनों जब कुछ दूर निकल गये, तब हँसकर ब्रह्माजी ने कहा—"ये दोनों अपने को कृतार्थ हुआ समझकर गये हैं, किन्तु वास्तव में दोनों अकृतार्थ हैं, इन्होंने आत्मा की उपलब्धि नहीं की। इनको आत्म साक्षात्कार नहीं हुआ। अज्ञानतावश ये अपने को कृतार्थ हुआ समझकर जा रहे हैं। चाहें कोई देवता हो, असुर हो कोई भी क्यों न हो जो अज्ञानतावश कृतार्थ न होने पर

भी अपने को कृतार्थ मान लेगा उसी का पराभव होगा। ये अभी कृतार्थ नहीं हुए।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! विरोचन और इन्द्र दोनों ही अपने को ब्रह्मज्ञानी मानकर चल दिये थे। इनमें विरोचन तो असुरों की पुरी में अपनी राजधानी में पहुँच गया। जब असुरों ने सुना हमारा राजा विरोचन प्रजापति के समीप से बत्तीस वर्ष का ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके लौट रहा है, तो स्वागत सत्कार किया। सभी ने पूछा—"क्या आप प्रजापति से—ब्रह्माजी से—आत्म विद्या सीख आये ?"

विरोचन ने कहा—"हम और इन्द्र दोनों साथ-ही-साथ प्रजापति के पास ब्रह्म विद्या सीखने गये थे, दोनों ने साथ-ही-साथ बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया, फिर ब्रह्माजी ने हम दोनों से साथ-ही-साथ आने का कारण पूछा। जब हमने आत्म विद्या की जिज्ञासा की तब हम दोनों को साथ-ही-साथ आत्म विद्या का उपदेश दिया और हम दोनों साथ-ही-साथ कृतार्थ होकर वहाँ से चले आये। इन्द्र तो अभी मार्ग में ही होंगे, मैं शीघ्रता के साथ आप सबके समीप आ गया।"

इस पर असुरों ने कहा—"जो आत्म विद्या आप प्रजापति से सीखकर आये हैं उसका उपदेश कृपा करके हमको भी दे दीजिये।"

विरोचन ने कहा—"अच्छा मैं उस आत्म विद्या का उपदेश करता हूँ, तुम सब लोग इसे ध्यान पूर्वक सुनो। देखो, आत्मा का अर्थ है देह, शरीर, तन। आत्मा पूजनीय है इसलिये शरीर की ही पूजा करनी चाहिये। भाँति-भाँति के उबटन लगाकर, विविध प्रकार के तैलों का मर्दन करके दिव्योषधियों महौषधियों से स्नान करना चाहिये। सुगंधित पदार्थों का शरीर में उपलेपन करना

चाहिये। इसे वस्त्रालङ्कार से, चन्दन मालाओं से अलंकृत करना चाहिये। सुगंधित धूपादि से इसे प्रमुदित करना चाहिये। अच्छे-अच्छे विविध व्यंजनों से इसे परितृप्त करना चाहिये। सुगन्धित पेय पदार्थ पिलाने चाहिये। सारांश यह कि शरीर की ही पूजा करो, शरीर की ही परिचर्या करो। इससे इस लोक में तो सुख मिलेगा ही। परलोक में इसकी पूजा से सुख प्राप्त होगा।

असुरों ने पूछा—"परलोक में शरीर के मृत होने पर सुख कैसे होगा ?"

विरोचन ने कहा—"मृतक शरीर को औषधियों द्वारा ऐसा बना दें, कि वह नष्ट न हो, चिरकाल तक ज्यों-का-त्यों बना रहे फिर उसमें सुगन्धित तैल फुलेल इत्र लगाकर बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके उसके साथ नाना प्रकार के पक्वान्न रखकर, उसके उपभोग के लिये उसके साथ स्त्रियों के भी शरीर को दबा देना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी। मृतक शरीर को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके, उससे सजा बजाकर सुरक्षित रखने से क्या लाभ ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जो प्राणों को ही सब कुछ समझकर उन्हीं में रमण करें, वे ही असुर कहलाते हैं। (असुषु रमते-इति—असुरः) जो सुर न हो देवताओं से द्वेष करने वाले हों वे ही असुर हैं। उनका मत है, शरीर को तृप्त करने से प्राण तृप्त होते हैं। अतः पहिले असुर प्रकृति के राजागण मृतक शरीरों को सुरक्षित रखने को उस पर लक्षों रुपये व्यय करते थे। उसकी समाधि में भोग की समग्र सामग्रियाँ रखते थे। पुरानी समाधियाँ खोदने पर अब तक ऐसी अनेकों वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं। उनका मत था इस लोक में शरीर सुखी रहेगा, तो परलोक में उसके

प्राण परितृप्त होंगे। असुर प्रकृति के पुरुष दान धर्म, यज्ञ आदि में श्रद्धा नहीं रखते। वे शरीर को ही सर्वस्व मानते हैं। इसीलिये लोक में जो पर्व आदि पर भी दान नहीं देता, पितरों का श्राद्ध तर्पण नहीं करता, यज्ञ यागादि पवित्र कर्मों को नहीं करता, वेद तथा ईश्वरादि पर श्रद्धा नहीं करता। उसे सज्जन लोग–शिष्ट जन–यही कहते हैं–अजी, यह तो आसुरी स्वभाव का पुरुष है। क्योंकि शरीर को ही सब कुछ मानना यही असुरों की उपनिषद् है। इसीलिये वे ही मृतक पुरुष की देह को भिक्षा से–सुगन्धित पदार्थों से–अन्न आदि सुस्वादि व्यंजनों से–वस्त्र और अलंकार से सुसज्जित किया करते हैं। उनका विश्वास है–हम इसके द्वारा परलोक प्राप्त करेंगे। यह आसुरी उपनिषद् हुई। पात्र भेद से उपदेश में भी भेद हो जाता है, जैसे वर्षा का जल गंगादि नदियों में पड़ने से वह पेय और मीठा हो जाता है वही समुद्र में गिरता है, तो अपेय और खारी बन जाता है। उपदेश तो ब्रह्माजी का ही था, किन्तु आसुरी प्रकृति के असुरराज विरोचन रूप पात्र में आने के कारण वह शरीर को ही आत्मा मानने वाला आसुर ज्ञान हो गया।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! विरोचन ने तो आत्मा देह को ही समझा इससे तो देहात्म भाव का आसुरी प्रकृति के पुरुषों में प्रचार हुआ। क्या इन्द्र ने भी ऐसा ही मानकर देवताओं में देहात्म भाव का प्रचार किया? इन्द्र ने जाकर देवताओं को क्या बताया?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! इन्द्र देवताओं के समीप स्वर्ग में पहुँचे ही कहाँ! उन्हें तो बीच मार्ग में ही शंका हो गयी। वे अपनी शंका का समधान कराने के निमित्त पुनः लौटकर प्रजापति की सेवा में श्रद्धापूर्वक समुपस्थित हुए। इन्द्र जैसे लौटकर प्रजा-

पति के समीप आये और उन्होंने जो-जो शंका की तथा ब्रह्माजी ने जैसे उनकी शंकाओं का समाधान किया, इस प्रसंग का वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सब इसे सहृदयता के साथ सुनने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

जाइ विरोचन देह ब्रह्म यह सबनि बतायो।
जिनि तन पूजा करी लोक परलोक बनायो॥
शव सजाइ सब कहें—भोग परलोक मिलत हैं।
नहीं दान मख करें असुर तन ब्रह्म कहत हैं॥
असुर उपनिषद् यह कही, प्राननि कूँ पोसत रहत।
दान यज्ञ श्रद्धा रहित, असुर तिनहिं सज्जन कहत॥

इति छांदोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय में
सप्तम तथा अष्टम खंड समाप्त।

श्री भागवत-चरित सटीक

टीकाकार

'भागवत चरित व्यास' पं० रामानुज पाण्डेय,

बी० ए० विशारद

'भागवत चरित' विशेषकर ब्रजभाषा की छप्पय छन्दों में लिखा गया है। जो लोग ब्रजभाषा को कम समझते हैं, उन लोगों को छप्पय समझने में कठिनाई होती है। उनके लिये लोगों की माँग हुई कि छप्पयों की सरल हिन्दी में भाषा-टीका की जाय। संवत् २०२२ विक्रमी में इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित हुआ। उसकी दो हजार प्रतियाँ छपायीं। छपते ही वे सब-की-सब निकल गईं। अब उत्तरार्द्ध की माँग होने लगी। जो लोग पूर्वार्द्ध ले गये थे, वे चाहते थे पूरी पुस्तक मिले किन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण छपने में विलम्ब हुआ साथ ही लोगों की यह भी माँग थी, कि कुछ मोटे अक्षरों में छापा जाय। प्रभु कृपा से अब के रामायण की भाँति बड़े आकार में मोटे अक्षरों में (२० पा०) अर्थ सहित प्रकाशित की गई हैं। प्रत्येक खंड में ८५० से अधिक पृष्ठ हैं मजबूत एवं सुन्दर कपड़े की जिल्द, चार-चार तिरंगे चित्र और लगभग ३५० एकरंगे चित्र हैं। मूल्य लागत मात्र से भी कम २२) रु० रखा गया है। एक खंड का मूल्य ११) रु० डाक खर्च अलग। आज ही पत्र लिखकर अपनी प्रति मँगा लें। फिर न कहना हमें सूचना नहीं मिली। थोड़ी ही प्रतियाँ शेष हैं।

—व्यवस्थापक

॥ श्रीहरिः ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१—भागवती कथा (१०८ खण्डों में)—९२ खण्ड छप चुके हैं। प्रति खण्ड का मू० १.६५ पैसे डाकव्यय पृथक।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द मू० ६.५०

३—सटीक भागवत चरित (दो खण्डों में)— एक खण्ड का मू० ११.००

४—बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ मू० ५.००

५—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०सं० ३५० मू० ३.४५

६—मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप मू० २.५०

७—कृष्ण चरित—पृ० सं० लगभग ३५० मू० २.५०

८—मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन मू० २.५०

९—गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें मू० २.५०

१०—श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डों में)— प्रथम खण्ड का मू० १.६०

११—नाम संकीर्तन महिमा—पृष्ठ संख्या ९६ मू० ०.६०

१२—श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) मू० ०.६५

१३—भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१४—शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र मू० ०.३१

१५—मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद संस्मरण, मू० ०.३१

१६—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) मू० ०.३१

१७—राघवेन्दु चरित—पृ० सं० लगभग १६० मू० ०.४०

१८—भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ संख्या १०० मू० ०.३१

१९—गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) मू० ०.२५

२०—भक्तचरितावली प्रथम खंड मू० ४.०० द्वितीत खड मू० २.५०

२१—सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दों सहित मू० ०.७५

२२—प्रयाग माहात्म्य— मू० ०.२०

२३—वृन्दावन माहात्म्य—मू० ०.१२

२४—सार्थ छप्पय गीता— मू० ३.००

२५—प्रभुपूजा पद्धति— मू० ०.२५

२६—श्री हनुमत्-शतक— मू० ०.५०

२७—महावीर-हनुमान्— मू० २.५०

पता—संकीर्तन भवन झूसी (प्रयाग)

श्री भागवत दर्शन मूल्य १.६५ मार्च १९७२
(Regd. No. L-1620 of Registrar of Newspapers for India)

भागवती कथा पर

बम्बई (महाराष्ट्र) राज्य हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के महामंत्री,
"भारती" के भू० पू० प्रधान सम्पादक, कवि, लेखक, गीतकार
प्राध्यापक पं० चन्द्रशेखरजी पांडेय एम० ए० बी० टी०

की

शुभ-सम्मति

परम पूज्य, संत-शिरोमणि, श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी द्वारा प्रणीत 'भागवती कथा' सुधारस से आप्लावित है। किन्तु जैसे वसुधामृत दूध छोड़कर वहुत से लोग मदिरा अथवा चाय-काफी का पान करते हैं, वही दशा अध्ययन-क्षेत्र में है। असत् साहित्य अथवा अश्लील उपन्यास पढ़ने में लोग समय नष्ट करते हैं। समय की वलिहारी है।

प्रसंगानुकूल विविध शास्त्र-पुराणों की सामग्री का एक स्थान पर संकलन 'भागवती कथा' की एक अपनी विशेपता है। इससे भी महान विशेपता है भाषा तथा लेखन-शैली। क्या कथा-प्रसंग, क्या गंभीर तत्त्व-चिंतन, सर्वत्र ऐसी प्रवाहपूर्ण एवं रोचक शैली है, जो मन को वरवस मोहित कर लेती है। समय के सदुपयोग तथा आत्म-कल्याण की दृष्टि से 'भागवती कथा' नियमित रूप से, एक बार नहीं बार-बार पढ़ना चाहिए।

लेखक—श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी। प्रकाशक—संकीर्तन भवन, झूसी
मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस ८५२ मुट्ठीगंज, प्रयाग।